॥ ओ३म् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता:
आलोचनात्मक अध्ययन

: लेखक :
डॉ. भवानीलाल भारतीय

॥ ओ३म् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

आलोचनात्मक अध्ययन

१—प्रारम्भिक वचन

महाभारत भारतीय वाङ्मय का अमर रत्न है। यह आर्ष काव्य सर्वशास्त्र निष्णात, पुण्यश्लोक महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास की अद्भुत काव्य प्रतिभा का चमत्कार है।

महाभारत स्वयं तो काव्य है ही, परन्तु संसार के कवियों को काव्य लिखने की प्रेरणा देने वाला तथा काव्योचित उपाख्यानों का मूल आधार होने से कवियों का उपजीव्य भी

है।[1] इन उपाख्यानों को आधार बनाकर शतशः कवियों ने काव्य रचना की है। कवि-कुल कैरव चन्द्र कालिदास का विश्व-विश्रुत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक अपनी कथा के लिये महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान का ही ऋणी है। भारवि का 'किरातार्जुनीय' तथा माघ का 'शिशुपाल बध' भी इसी पर आधारित है। महाकवि श्रीहर्ष प्रणीत 'नैषध चरित' काव्य का मूल भी महाभारतीय 'नलोपाख्यान' ही है। इनके अतिरिक्त भी संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों और नाटककारों ने अपनी महनीय कृतियों का सृजन करते समय महाभारत के विविध प्रसङ्गों को ही अपने समक्ष रखा है।

आकार की दृष्टि से तो महाभारत को एक विशाल सागर की उपमा देना ही ठीक होगा। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, परम्परा और चिन्तन की शताधिक धारायें इस महासागर में आकर मिली हैं। इसमें यदि रत्न मिलते हैं तो घोंघे भी। कौरव पाण्डवों के युद्ध की मूल कथा के साथ साथ इसमें नीति, आचार, धर्म, राजनीति तथा व्यवहार-नय का विवेचन करने वाले सहस्रों ऐसे प्रसंग उपस्थित किए गएहैं,जिनके कारण यदि इस ग्रन्थ को आर्य धर्म और सभ्यता का विश्वकोष भी कह दिया जाय तो कुछ भी अनुचित नहीं होगा। ऐसे ही उदात्त उपदेश प्रधान प्रसङ्गों में श्रीमद्भगवद्गीता की भी गणना की जा सकती है जो विश्व साहित्य की एक अनुपम वस्तु है।

---

[1] सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुम ॥ आदि पर्व १।९२
अनामित्यंतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्चित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ आदि पर्व २।३८८
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ॥ आदि पर्व। २।३८९

महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत अर्जुन विषाद की पृष्ठभूमि पर भगवद्गीता का कलेबर रचा गया है। आज तक इस ग्रन्थ का संसार की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और लाखों की संख्या में यह पुस्तक मुद्रित और प्रकाशित हो चुकी है। अनेक देशी, विदेशी विद्वानों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और इसे आत्मोद्धार तथा विश्वकल्याण की कुञ्जी बताया है। भारत के अनेक क्रान्तिकारी शहीद मातृभूमि को स्वाधीन कराने के प्रयत्नों में जब फांसी के तख्तों पर झूले थे, तब उनके हाथों में गीता ही थी। आत्मा की अमरता के रूप में देश के लिये सर्वस्व न्योछावर करने की भावना और बलिदान की प्रेरणा का उत्स गीता ही रही है।

—०:※:०—

२—महाभारत में गीता की स्थिति

यद्यपि गीता महाभारत का ही एक भाग है, परन्तु इसे निरपेक्ष दृष्टि से ही अधिकतया पढ़ा और समझा गया। आर्य-समाज में गीता के प्रसिद्ध समीक्षक पं० राजेन्द्रजी का यह कथन सत्य ही है कि अब तक गीता को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में ही स्वीकार किया गया है।वस्तुतः वह महाभारत का अल्पात्यल्प अंश है; महाभारत में उसकी क्या स्थिति है, इस सापेक्ष दृष्टि से अब तक उसका अध्ययन नहीं हुआ। प्रस्तुत प्रसङ्ग में हमें इसी पर विचार करना है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं,महाभारत एक वृहद्काय ग्रन्थ है। उपाख्यान युक्त भारतसंहिता में एक लाख श्लोक हैं,

ऐसी प्रसिद्ध मान्यता है[1]। परन्तु उपाख्यानों को छोड़कर जो मूल भारत ग्रन्थ व्यास द्वारा बनाया गया उसमें केवल २४ हजार श्लोक ही थे यह भी इसी प्रसङ्ग में कहा गया है—

चतुर्विंशति साहस्त्री चक्रे भारत संहिता।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारते प्रोच्यते बुधैः॥

स्पष्ट है कि कृष्णद्वैपायन प्रोक्त मूल ग्रन्थ इतना बड़ा नहीं था, जितना कि वह आज उपलब्ध होता है। महाभारत के लगभग सभी आधुनिक अनुशीलन कर्त्ता इस बात से सहमत हैं कि समय समय पर महाभारत में प्रक्षेप होते रहे हैं और यह निर्णय करना अत्यन्त दुष्कर है कि इसका कौनसा अंश मौलिक है और कौनसा कालान्तर में प्रक्षिप्त किया हुआ है। कृष्ण चरित्र के सुप्रसिद्ध आलोचक बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय अपने गहन गम्भीर भारत अनुशीलन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सम्प्रति उपलब्ध महाभारत में तीन तहें बिलकुल स्पष्ट मिलती हैं। महाभारत का जो मौलिक अंश है वह नितान्त उदार, विकार शून्य और प्रौढ़ कवित्व से पूर्ण है। दूसरा अंश तो स्पष्ट ही चतुर व्यक्तियों की कृति है जिसमें काव्य चातुरी और दार्शनिक व्याख्या का घटाटोप है। महाभारत की तीसरी तह अनेक शताब्दियों से बनती चली आ रही है। जिसे जो अच्छा लगा उसने वही मिला दिया। यह अंश सर्वथा अप्रामाणिक है[2]। महाभारत के गम्भीर अध्येता चिन्ता-

---

१ इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्य कर्मणाम्। आदिपर्व १।१०१
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्॥ आदिपर्व १।१०२

२ 'कृष्ण चरित' बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय। अनुवादक जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित।

मणि विनायक वैद्य[२] तथा 'गीता रहस्य' के लेखक लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक भी[३] इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि महाभारत में कालक्रम से अनेक हेर फेर हुए हैं। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने भी महाभारत की श्लोक वृद्धि के अनेक प्रमाण देकर उसकी वृहत् काया को एक ऊँट के बोझे की उपमा दी है ।[४] महाभारत में प्रक्षेप विचार पर निम्न सामग्री अध्ययन करने योग्य है—इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखा गया 'श्री कृष्ण चरित' का पाँचवाँ अध्याय–कृष्ण चरित के मौलिक उपादान,[५] पं० राजेन्द्रजी लिखित गीता विमर्श–महाभारत में प्रक्षेपण,[६] स्वामी आत्मानन्द सरस्वती लिखित–वैदिक गीता-महाभारत में प्रक्षेप तथा सत्य प्रकाशन, मथुरा, द्वारा प्रकाशित 'शुद्ध महाभारत' एवं 'शुद्ध कृष्णायन' के सम्बन्धित अंश।

महाभारत में गीता की स्थिति को लेकर कई मान्यतायें प्रचलित हैं। पं० राजेन्द्र जी जैसे विद्वानों की सम्मति में सम्पूर्ण गीता महाभारत में प्रक्षिप्त की गई है। उन्होंने अर्जुन विषाद की पृष्ठभूमि पर लिखित गीता को महाभारत का मौलिक अंश नहीं माना। आगे चल कर हम इस पर विचार करेंगे। अन्य विद्वानों की सम्मति में गीता यद्यपि महाभारत का मौलिक अंश ही है, परन्तु वे उसमें समय समय पर अनेक श्लोकों का

---

२ महाभारत मीमांसा

३ गीता रहस्य : अनुवादक—माधवराव सप्रे, तृतीय मुद्रण १९१९ ई०, पृष्ठ० ५२४

४ सत्यार्थप्रकाश : एकादश समुल्लास

५ प्रकाशक—आर्यसाहित्य मण्डल, अजमेर।

६ वेदमन्दिर प्रकाशन—अतरौली।

प्रक्षिप्त होना भी मानते हैं। ऐसे विचारकों में गीता रहस्य के लेखक लोकमान्य तिलक का महत्वपूर्ण स्थान है। और तीसरे हैं परम्परा वादी पौराणिक दृष्टिकोण को प्रधानता देने वाले महानुभाव। इनके लिए तो गीता साक्षात् भगवदोक्त होने के कारण वेदों से भी अधिक प्रामाणिक है। यह मत स्पष्ट ही मात्र आस्था और अन्ध विश्वास पर आधारित होने के कारण तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। गीता को भगवद्प्रोक्त मानने वाले कथित पुरातनवादी लोग अपने मत को निम्न श्लोक के द्वारा व्यक्त करते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र संग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिसृताः॥[1]

अन्य बहुत से शास्त्रों का संग्रह करने की क्या आवश्यकता है? गीता का ही अच्छी तरह से गान करना चाहिए क्योंकि वह स्वयं कमलनाभ भगवान् के साक्षात् मुख कमल से निकली हुई है। गीता की भावभरी प्रशस्ति में लिखा गया यह श्लोक तर्क का प्रहार सहन करने में अक्षम है।

इस प्रकार की अनर्गल मान्यता और गीता को दिए गये इस प्रकार के अनुचित महत्व का बड़ा भारी दुष्परिणाम हुआ है। गीता का ऐसा 'सस्ता नुस्खा' हाथ लगने पर वेदादि सत्शास्त्रों के लिए कोई श्रम क्यों करना चाहेगा? परम प्रभु की कल्याणी वाणी वेद के स्वाध्याय के प्रति उपेक्षा के मूल में गीता के प्रति इस प्रकार के अनुचित लगाव को दृष्टि में रख कर ही राजस्थान के राज्यपाल प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री महामहिम डा० सम्पूर्णानन्द जी ने निम्न शब्दों में एक बहुत बड़े सत्य को प्रस्तुत किया है--"हमारे देश में गीता तथा उपनिषदों

[1] भीष्म पर्व अ० ४३।१

के पढ़ने का चलन कुछ फैशन सा बन गया है, किन्तु लोग यह भूल जाते हैं कि उपनिषद् वेद का अंश मात्र है। साथ ही यह भी निश्चित है कि वेदों के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार और उसको उसके असली रूप में समझना भी सम्भव नहीं है। गीता निश्चय ही एक महती कृति है किन्तु यह हमारे लिए स्वतः प्रमाण नहीं अथवा धर्म की सबसे बड़ी पुस्तक नहीं है। यह पद वेदों को ही प्राप्त है। गीता की गाथा गाते रह कर वेदों की उपेक्षा करते जाना प्रायः उसी प्रकार है जैसे दूध की तो रक्षा की जाय और गौ को भुला दिया जाये। यदि वेद रहे तो उनमें से हजार गीता निकल सकती हैं किन्तु गीता से वेद की सृष्टि नहीं हो सकती।" डाक्टर महोदय ने उक्त विचार बीकानेर के गीता सम्मेलन में प्रकट किए थे। गीता हिन्दुओं का वेद बन जाय यही नहीं एक प्रकार से वेदों का प्रतिद्वन्द्वी बन जाय, यह स्थिति निश्चय ही बड़ी शोच्य है।

अब दो मत शेष रह जाते हैं। इनमें एक उनका है जो सम्पूर्ण गीता को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस कोटि के विचारकों में पं० राजेन्द्रजी मुख्य हैं। उन्होंने अपने इस मत का प्रतिपादन 'गीता विमर्श' के तृतीय अध्याय[1] तथा 'गीता की पृष्ठभूमि' नामक लघु पुस्तिका में किया है। हम क्रमशः उनके इस विषय में प्रस्तुत किए गए विचारों की समीक्षा करेंगे।

पण्डित जी का प्रथम तर्क इस प्रकार है:—"जिस प्रकार का विषाद अर्जुन को युद्ध भूमि में लड़ने के लिए उपस्थित कौरव सेना को देखकर हुआ था वैसा ही विषाद युधिष्ठिर को भी भीष्म कृत व्यूह रचना को देख कर हुआ था। अर्जुन ने इस पर अपने अग्रज को समझाया और युद्ध में स्वपक्ष के विजयी

[1] समस्त गीता प्रक्षिप्त है।

होने का विश्वास दिलाया"। अब पण्डित जी का यह कथन है कि जो अर्जुन अपने बड़े भाई को युद्ध के लिए तत्पर कर सकता है वह स्वयं उसी युद्ध को निकट देखकर दुखी और शोक संविग्न कैसे हुआ ? **समीक्षा**—वस्तुतः यह तर्क बड़ा दुर्बल है। हम सभी जानते हैं कि मनुष्य एक परिस्थिति में दूसरे को उपदेश दे सकता है तो किसी अन्य स्थिति में वह स्वयं उपदेश का पात्र भी बन सकता हैं। मृत्यु आदि के शोक पूर्ण प्रसङ्गों में तो प्रायः यह स्थिति बनती है। अच्छे २ विचारशील व्यक्ति जो एक क्षण पहले अन्य परिवारी जनों को समझा रहे होते हैं दूसरे ही क्षण विलख २ कर रोते देखे जाते हैं। कन्या की विदाई के प्रसङ्गों में भी कई बार ऐसे दृश्य देखने को मिलते हैं। सच में मानव मन की बड़ी विचित्र गति है। तो जो अर्जुन युधिष्ठिर को समझा सकता है वह किसी अन्य अवसर पर शोक युक्त होकर युद्ध से पराङ्मुख न हो, यह कोई आवश्यक नहीं है।

एक अन्य युक्ति जो पं० राजेन्द्र जी ने प्रस्तुत की है वह इस प्रकार है—"गीता के प्रथम अध्याय में सञ्जय कौरवों के लिये दो स्थानों पर 'धार्तराष्ट्र' (धृतराष्ट्र के पुत्र) शब्द का प्रयोग करता है।"(गी० १। १९, २०) इस पर वे लिखते हैं—"यहाँ 'तुम्हारे पुत्रों के' न कह कर 'धृतराष्ट्र के पुत्रों के' वाक्य का प्रयोग किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह सञ्जय-धृतराष्ट्र संवाद नहीं है अपितु किसी तीसरे व्यक्ति की की कल्पना है।" ❀ **समीक्षा**—पंडित जी की यह कल्पना बड़ी दुर्बल है। उनका कहना यह है कि जब धृतराष्ट्र सम्मुख उपस्थित है तो कौरवों के लिए संजय ने 'तुम्हारे पुत्र' ऐसा प्रयोग न कर 'धार्तराष्ट्र' (धृतराष्ट्रस्य अपत्यं=धृतराष्ट्र की संतान)

❀ गीता विमर्श पृ० ४०

यह परोक्ष सम्बोधन क्यों प्रयुक्त किया ? पण्डित जी यह तो जानते ही हैं कि कृष्ण गीता में सर्वत्र अर्जुन को कहीं 'कौन्तेय, कहीं 'भारत', कहीं 'पाण्डव' कहकर सम्बोधन करते हैं। उनके द्वारा उपस्थित आक्षेप यहाँ भी लगाया जा सकता है। जब अर्जुन सामने ही उपस्थित है तो उसे कृष्ण 'तू' न कह कर कुन्ती का पुत्र, भरतवंशी भारत या पाण्डु का पुत्र पाण्डव क्यों कहते हैं ? पण्डित जी को यह भी ज्ञात ही है कि संस्कृत में ऐसे शब्द अपत्य वाचक तद्धित कहलाते हैं। उनका प्रयोग सर्वत्र संस्कृत भाषा में होता है। अतः सञ्जय भी यदि धृतराष्ट्र पुत्र कौरवों के लिए 'तेरे पुत्र' कहने की अपेक्षा 'धार्तराष्ट्र' (धृत-राष्ट्र के पुत्र) कहता है तो इसे किसी तीसरे व्यक्ति की कल्पना नहीं कहा जा सकता।

सञ्जय की व्यास प्रदत्त दिव्य दृष्टि पर भी पं० राजेन्द्र जी ने अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं। हमारी सम्मति में दिव्य दृष्टि कोई अलौकिक और असंभाव्य वस्तु नहीं है। व्यास द्वारा संजय को युद्ध विषयक विवरण बताने के लिये जो योग शक्ति प्रदान की गई, वही दिव्य दृष्टि थी। इस प्रकार की शक्ति से मनुष्य अन्यत्र घटित घटनाओं को प्रत्यक्ष के तुल्य देखता है। सञ्जय ने भी ऐसा ही किया और युद्ध के विवरण को राजा धृतराष्ट्र के लिए उपस्थित किया।

कृष्ण के विराट रूप दर्शन के प्रसंग की आलोचना करते हुए पं० राजेन्द्र जी लिखते हैं कि कृष्ण ने बाल्यकाल में विराट् रूप को अपनी माता यशोदा को दिखाया, अतः गीता में उनका यह कथन कि 'हे' अर्जुन यह रूप तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा नहीं देखा गया है' स्पष्ट ही असत्य है। हम तो गीता में विराट् रूप दर्शन के समस्त प्रकरण को ही प्रक्षिप्त समझते

हैं। अतः इस प्रसंग के आधार पर गीता के मौलिक स्वरूप के विषय में शंका उपस्थित नहीं की जा सकती।

महाभारत के 'आश्वमेधिक' पर्व में अनुगीता के प्रसंग की चर्चा करते हुये पं० राजेन्द्र जी का कथन यह है कि यदि कृष्ण स्वयं परमात्मा हैं तो उनके लिये अपने द्वारा प्रदत्त गीता की शिक्षा विस्मृत कर देने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये और यदि उन्होंने योग युक्त अवस्था में उपदेश दिया था, तो क्या उस योगावस्था को वे पुनः प्राप्त नहीं कर सकते थे ? फिर उनके लिये ऐसी कौन सी कठिनाई थी कि वे अर्जुन के आग्रह पर उस उपदेश को पुनः दोहराने में असमर्थ रहें ? श्री कृष्ण के परमात्मा होने वाली बात तो सर्वथा निराधार और पौराणिक कल्पना है। अब रह जातीहै उनके योग युक्त होने की बात सो इस सन्दर्भ में यह अयुक्त नहीं है। एक विशेष प्रकार का वक्तव्य विशेष परिस्थिति और विशिष्ट मनः स्थिति में ही दिया जा सकता है। अतः कृष्ण के लिये यह सम्भव नहीं था कि वे गीतोक्त उपदेश को अर्जुन के कथन पर पुनः ज्यों का त्यों दुहरा देते। योगाविष्ट होकर एक विशेष मानसिक स्थिति में जो बातें कही गई उन्हें पुनः कह देना सुगम नहीं है। अतः अनुगीता के प्रसंग के आधार पर कृष्ण और अर्जुन के 'मूल संवाद' को काल्पनिक और साम्प्रदायिक लोगों की सृष्टि नहीं बताया जा सकता।

हाँ, यह शंका अवश्य उठती है कि वर्तमान गीता में जो बातें मिलती हैं क्या वे सम्पूर्णतया ज्यों की त्यों कृष्ण द्वारा कही गयीं थीं ? यह भी शंका प्रकट की जाती है कि युद्ध के मैदान में, जहां उभय पक्ष की दोनों सेनायें परस्पर जूझने के लिए तैयार खड़ी हैं वहाँ इस प्रकार का उपदेश देना क्या सम्भव है ? इस पर यही कहा जा सकता है कि गीता वर्तमान में हमें

जिस रूप में मिलती है, निस्सन्देह वह भानमती का पिटारा है। उसका एक अंश पौराणिक समन्वय की आड़ में कल्पनाओं और परस्पर विरोधी दार्शनिक मान्यताओं से पूर्ण है। 'गीतामें प्रक्षेप और अवैदिक मान्यतायें' शीर्षक के अन्तर्गत हम इस पर विचार करेंगे। जो शेष भाग रहता है उसके सम्बन्ध में भी हमारी धारणा है कि गीता में जो कुछ कहा गया है वह कृष्णके आध्यात्मिक उपदेशों का व्यास कृत संग्रह है। बहुत सम्भव यही है कि कृष्ण ने युद्ध की भूमि में अर्जुन के मोह को दूर करने के लिये गीता के प्रारम्भिक अध्यायों में वर्णित बातें कही हों जिनमें उनके अन्य आध्यात्मिक, धार्मिक और दार्शनिक विचारों को गुंफित कर व्यास ने गीता ग्रन्थ को वर्तमान रूप प्रदान किया। कुछ भी हो, गीता का वर्तमान उपलब्ध रूप ही हमारी आलोचना, मीमांसा, व्याख्या और विचार का विषय बन सकता है तथा उसमें पाई जाने वाली अवैदिक और बुद्धि विरुद्ध बातों को छोड़ कर उसके शेष वैदिक और शुद्ध अंश को स्वीकार किया जा सकता है।

गीता के कतिपय अंश अनावश्यक, असंगत, पूर्वापर विरुद्ध और पुनरुक्त भी हैं, उससे हमें इन्कार नहीं। परन्तु उन अंशों को छोड़ कर शेष गीता की प्रामाणिकता पर शंका नहीं उठाई जा सकती और न समस्त गीता को ही महाभारत में प्रक्षिप्त फलतः अप्रामाणिक माना जा सकता है। यह कोई तर्क नहीं कि महाभारत में शाम्पाक गीता, षड्ज गीता, बोध्व गीता मंकि गीता, पराशर गीता, ब्राह्मण गीता आदि अनेक छोटी बड़ी गीतायें मिलाई गई हैं, अतः उसके भीष्मपर्व में विद्यमान भगवत्गीता को भी अप्रामाणिक माना जाय'। यह तो हमारे भारतीय साहित्य की एक परम्परा रही है कि एक विशिष्ट

प्रकार की साहित्यिक कृति के अनुकरण पर अन्य शतशः ग्रंथ लिखे जाते रहे हैं। हम जानते हैं कि जिस प्रकार ईशादि दश उपनिषदों के अतिरिक्त भी साम्प्रदायिक उपनिषद लिखे गये और उनकी संख्या १०० से भी अधिक बढ़ गई उसी प्रकार गीता नामधारी ग्रन्थों का भी बाहुल्य रहा। महाभारतान्तर्गत गीताओं को छोड़ भी दें तो ब्रह्माण्डरामायण के अन्तर्गत राम गीता, अष्टावक्र गीता, पाण्डव गीता आदि गीता नामधारी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। इसी प्रकार महाभारतान्तर्गत विष्णु सहस्रनाम के तुल्य ही गोपाल सहस्रनाम, सूर्य सहस्रनाम, शिव-सहस्रनाम, राधा सहस्रनाम आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थ लिखे गये। अतः गीता की अप्रमाणिकता के लिये यह तर्क सारहीन ही है।

श्री पं० राजेन्द्र जी का यह भी कथन है कि 'गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में उसे 'उपनिषद' कहा गया है। यह पुष्पिका महाभारत में नहीं मिलती, अतः साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के लोगों ने उसे पृथक नाम रूप देकर महत्व प्रदान किया है। परन्तु उस कथन से न तो गीता की अप्रामाणिकता ही सिद्ध होती है और न उसकी महाभारत का एक अंश होने की स्थिति में ही कोई अन्तर आता है। ऐसे शतशः ग्रन्थ हैं जो मूल ग्रन्थ से पृथक् किये जाते हैं तथा जिन पर व्याख्या, टीका, भाष्य आदि लिखे जाते हैं। यजुर्वेदान्तर्गत रुद्राध्याय, पुरुष सूक्त, ईशोपनिषद् आदि आज स्वतन्त्र ग्रन्थों का रूप धारण कर चुके हैं और उन पर सैकड़ों व्याख्यायें लिखी जा चुकी हैं। इससे उनकी प्रामाणिकता पर न तो आँच ही आई और न उन्हें यजुर्वेद में प्रक्षिप्त ही माना गया। वेदान्त सूत्रों के प्रारम्भिक चार सूत्रों की 'चतुः सूत्री' के नाम से पृथक् व्याख्यायें की गईं। ऐसे उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं। महाभा-

रत के अन्तर्गत पाये जाने वाले विदुर नीति, यक्ष-धर्म-प्रश्नोत्तर, सनत्सुजातीय, भगवद्गीता आदि ग्रन्थों को भी जो स्वतंत्र स्वरूप प्राप्त हुआ है वह उनके विशिष्ट महत्व का ही सूचक है, इससे उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ।

लोकमान्य तिलक ने गीता की प्रामाणिकता की पुष्टि में जो युक्तियाँ अपने गीता रहस्य में प्रस्तुत की हैं, उनकी सहज ही अवहेलना नहीं की जा सकती। महाभारत के आदिपर्व में जो अनुक्रमणिका अध्याय है उसमें गीता का उल्लेख हुआ है। पुनः गीता और महाभारत की शब्द, वाक्य विन्यास और रचना शैलियों के साम्य पर भी विचार किया जा सकता है। श्री पं०राजेन्द्र जी के इस कथन पर हमें विशेष आपत्ति है कि मनुस्मृति और उपनिषदों के श्लोक सादृश्य अथवा थोड़े भेद के साथ उनकी गीता तथा महाभारत के श्लोकों के साथ समानता भी निष्प्रयोजन है।"[1] परन्तु इसे निष्प्रयोजन मानने का कारण क्या है ? गीता के पूर्ववर्ती उपनिषद और मनुस्मृति के शब्दों और भावों की गीता में विद्यमानता अनुचित क्यों है इसे, पं० राजेन्द्र जी नहीं समझा सके।

बौद्ध साहित्य में गीता का उल्लेख नहीं मिलता, अतः यह गीता एक परवर्ती रचना है , यह कहने में भी कोई तुक नहीं है। गीता, महाभारत जैसे आर्य आदर्शों से युक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित जीवनमूल्यों का बौद्धों की अहिंसा, वैराग्य, निवृत्ति-मार्ग और त्याग प्रधान श्रमण आदर्शों से मौलिक विरोध है अतः गीता की तेजस्वी और स्फूर्तिदायिनी शिक्षा की जान बूझ कर बौद्ध ग्रन्थकारों ने उपेक्षा की हो तो आश्चर्य ही क्या ?

पं० राजेन्द्रजी ने इस बात की भी सम्भावना प्रकट की

---

१ गीता विमर्श पृष्ठ ४६

है कि गीताकार ने बौद्धमत के कई विचारों को अपना रंग रूप देकर गीता में समाविष्ट कर लिया है। परन्तु अपने इस कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण उन्होंने उपस्थित नहीं किया। हमें तो समग्र गीता में कोई बौद्ध विचार नहीं मिला।

'गीता की पृष्ठभूमि' के नाम से पं० राजेन्द्रजी ने एक अन्य पुस्तक भी लिखी है, जिसमें अर्जुन विषाद के प्रसङ्ग को सम्पूर्णतया काल्पनिक, मिथ्या और निराधार सिद्ध करने की चेष्टा की है। हम यहाँ इस पुस्तक में प्रकट की गई स्थापनाओं की समीक्षा करेंगे। प० राजेन्द्र जी की यह मान्यता है कि "श्रीकृष्ण को ईश्वरावतार मान लेने के पश्चात् इस ग्रन्थ की वैष्णवमत के प्रादुर्भाव के साथ रचना हुई और बिना पूर्वापर सम्बन्ध का विचार किये किसी समय इसे महाभारत में मिला दिया गया।[1] अपने इस कथन की पुष्टि में लेखक ने निम्न दो प्रमुख तर्क उपस्थित किए हैं—

[१] महाभारत के मुख्य युद्ध से पहले भी कई अवसरों पर अर्जुन का अपने पूज्य गुरु आचार्य द्रोण तथा पितामह भीष्म आदि से युद्ध करने का अवसर उपस्थित हुआ था। बनवास का काल यापन करते समय राजा विराट की ओर से अर्जुन ने कौरव सेना से युद्ध किया। पं. राजेन्द्र जी का कथन यह है कि यदि इन अवसरों पर अपने पूज्य पुरुषों--भीष्म, द्रोण आदि से युद्ध करते समय अर्जुन के हृदय में मोह और विषाद उत्पन्न नहीं हुआ तो गीता के प्रारम्भ में ही उसकी ऐसी मनः-स्थिति क्यों बनी और क्यों उसने अपने मुँह से दीनता के वचन कहे ? हमें पं. राजेन्द्र जी की इस युक्ति में अधिक सार्थकता प्रतीत नहीं होती। प्रथम तो मनुष्य का मन बड़ा विचित्र है।

---

१ गीता की पृष्ठभूमि : प्रस्तावना

विभिन्न परिस्थितियों में उसकी मानसिक प्रक्रियायें भिन्न भिन्न होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि एक अवसर पर उत्साह और जोश में भरकर अपने गुरुजनों से लड़ने वाला अर्जुन दूसरे अवसर पर भी ऐसा ही उत्साह प्रदर्शित करे। फिर महाभारत का यह युद्ध तो अन्तिम निर्णायक युद्ध है। इससे कौरव और पाण्डवों के भविष्य का सदा २ के लिए निपटारा होने जा रहा है। गीता के ही शब्दों में "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्य से महीम्" २।३७ इस युद्ध में मरने पर स्वर्ग प्राप्ति और जीतने पर पृथ्वी के राज्य की प्राप्ति निश्चित है। ऐसे युद्ध के अवसर पर यदि अर्जुन की मानसिक स्थिति वैसी बन जाय जिसका वर्णन गीता के प्रथम और द्वितीय अध्याय में है तो आश्चर्य ही क्या ? यह युद्ध न तो मत्स्य या विराट आदि देशों के राजाओं की सहायता के लिए ही किया जा रहा है और न इसमें कौरवों द्वारा विराट् राजा की गायों का हरण आदि कोई तुच्छ हेतु ही है। अपितु यह तो दुर्योधन की उस धृष्ट और दुराग्रह युक्त उक्ति का प्रत्युत्तर देने के लिए लड़ा जा रहा है जिसमें कहा गयाथा–"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।" यहाँ यह भी विचारणीय है कि विराट पर्वान्तर्गत राजा विराट् की गायों के हरण और उसके लिए अर्जुन द्वारा युद्ध का प्रश्न बड़ा ही नाटकोय सा प्रतीत होता है। जो भीष्म महाभारत के उस तुमुल युद्ध में कहीं नवें दिन पराभव को प्राप्त होते हैं वह भी अर्जुन के पक्ष में कृष्ण जैसे रण-नीतिज्ञ के सहयोग और प्रोत्साहन की स्थिति में, वही भीष्म सिर्फ अर्जुन की बाण वर्षा से भाग खड़े होते हैं। यही बात द्रोण, दुर्योधन आदि के प्रसङ्ग में आती है। ये सब भी आन की आन में मैदान छोड़कर भाग खड़े होते हैं। स्पष्ट है कि यह युद्ध

वास्तव में कोई युद्ध नहीं, योद्धाओं के हाथ मिलाने भर की बात थी। और अर्जुन अपने अन्तर के अन्तर में इस स्थिति को खूब अच्छी तरह समझता था। प्रकरण को देखने से सुस्पष्ट है कि अर्जुन के निकट वहाँ राजकुमार उत्तर के स्थान पर स्वयं को एक बांके सेनानी के रूप में प्रस्तुत करने का उद्देश्य दादा भीष्म, गुरु द्रोण और दुर्योधनादि का प्राण-हरण न होकर एक मात्र अपने रण कौशल का प्रदर्शन और अज्ञातवास की समाप्ति की भूमिका तैयार करना भर था। इस युद्ध में यदि दादा भीष्म, गुरु द्रोण आदि को मार डालने अथवा उनके हाथों मारे जाने की लेश मात्र भी सम्भावना अर्जुन के मस्तिष्क में रही होती तो क्या यों अनायास ही बिना श्रीकृष्ण एवं युधिष्ठिर आदि की अनुमति के यह पग उठाने का दुस्साहस वह करता ? हाँ, आज सञ्जय के दूतत्व और श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण सन्धि-प्रयासों के असफल हो जाने पर जब १८ अक्षोहिणी सेना टिड्डी दल की भाँति कुरुक्षेत्र के मैदान में छाई है और न केवल भारत वरन् धरती भर का शौर्य और वैभव सिमिट कर दो पक्षों में बँट कर एक दूसरे को निगल जाने के लिए तैयार खड़ा है, अर्जुन इस निर्णायक घड़ी की नाजुकता को समझ रहा है।

इसी प्रसङ्ग में यह भी विचारणीय है कि यद्यपि युधिष्ठिर बड़े थे, महाराज थे, पर इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि पाण्डव पक्ष में इस विकट युद्ध की धुरी अर्जुन ही थे। अतः इस गुरुतर दायित्व को अनुभव करके, अर्जुन के मन में विषाद की भावनाओं का उत्पन्न होना और कृष्ण जैसे समर्थ सखा की उपस्थिति में अपने मन की इस मानव सुलभ दुर्बलता को प्रकाशित करना तनिक भी असङ्गत और अस्वाभाविक नहीं रहता।

कृष्ण अर्जुन के निकट सखा थे, गुरु थे और उसे सब प्रकार सम्भालने में समर्थ थे। उन क्षणों में कृष्ण के सान्निध्य से भी अर्जुन को अपने मनोवगों का प्रकाशन अधिक सहज हो गया। मानव मनोविज्ञान के अध्येता, हमारा विश्वास है, हमारे इस कथन की पुष्टि करेंगे।

अर्जुन समझता था कि इस युद्ध में भीषण नर संहार होगा। शायद इने गिने लोग ही इस युद्ध रूपी वैतरणी को पार कर सकें। अतः इस युद्ध की भूमिका में अर्जुन के हृदय में विषाद की भावनायें उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है।

[२] पं० राजेन्द्र जी का द्वितीय तर्क है कि युद्ध की आशंका को देखकर धृतराष्ट्र ने संजय को अपन दूत के रूप में पाण्डवों को समझाने के लिये भेजा। सञ्जय ने अपने वाक्चातुर्य के बल पर युद्ध जन्य हानियों की विभीषिका बताते हुये पाण्डवों को युद्ध से विरत रहने का उपदेश दिया। इस पर कृष्ण चुप न रह सके। उन्होंने महाभारत उद्योगपर्व अध्याय २९ में वर्णित बातें कह कर ज्ञान और कर्म का उचित विवेचन करते हुये पाण्डवों के लिए युद्ध को ही एक मात्र करणीय बताया। इस समग्र प्रसङ्ग का विस्तृत विवेचन सत्य प्रकाशन मथुरा द्वारा प्रकाशित 'शुद्ध महाभारत' में है जहाँ पाठक उसे देख सकते हैं। इसी प्रसङ्ग को विस्तार से उद्धृत कर प० राजेन्द्रजी निम्न निष्कर्ष उपस्थित करते हैं—

[१] सञ्जय ने पाण्डवों को जो भ्रामक उपदेश दिया उसे ही गीताकार ने श्रीकृष्ण का उपदेश कह कर भीष्म पर्व में गीता ज्ञान के नाम से दोहराया है।[1]

---

१ गीता की पृष्ठ भूमि पृष्ठ १७

[२] कृष्ण ने संजय को जो उत्तर उद्योगपर्व के इस प्रकरण में दिया वह गीतोक्त कृष्ण के उपदेश से सर्वथा भिन्न है। पं० राजेन्द्र जी के शब्दों में "यह प्रसङ्ग गीता की विचार-धारा से कितना भिन्न और विपरीत है, जिस पर किसी टीका टिप्पणी और विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।"

[गीता की पृष्ठ भूमि पृ० २५]

हम पं० राजेन्द्र जी द्वारा प्रस्तुत किए गये दोनों ही निष्कर्षों से असहमत हैं। वस्तुतः संजय ने जो विचार यहाँ व्यक्त किये वे तो अर्जुन द्वारा प्रकट किए गये उन विषाद मूलक विचारों से अधिक मिलते जुलते हैं जो उसने गीता के आरम्भ में प्रकट किये थे। सञ्जय के इन विचारों को श्रीकृष्ण के गीतोक्त उपदेशों के समान स्तर पर रखना स्पष्ट ही भ्रामक और आश्चर्यकारक है। उदाहरण के लिए सञ्जय की निम्न उक्ति की गीता की समानान्तर उक्ति से तुलना कीजिये—

न चेद् भागं कुरवो ऽन्यत्र युद्धात् प्रयच्छोरस्तुभ्यमजात शत्रो।
भैक्षचर्यामन्धक वृष्णिराज्ये श्रेयोमन्ये न तु युद्धे न राज्यम्॥

हे अजात शत्रु (युधिष्ठिर) यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्य का भाग न दें तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियों के राज्य में भीख माँग कर जीवन निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ, परन्तु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता। सञ्जय की इस उक्ति को अर्जुन के निम्न दीनता युक्त कथन से मिलाइये—

'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। २।५

आदि। अतः पं० राजेन्द्र जी का यह कथन कितना विचित्र और आश्चर्योत्पादक है कि गीताकार ने सञ्जय के इसी भ्रामक उपदेश को कृष्ण का उपदेश कह कर गीता में दुहराया है।

वस्तुतः संजय का कथन तो अर्जुन के विषाद वर्णन की ही भाँति पूर्व पक्ष का मत है जिसका सिद्धान्त पक्ष के रूप में यहाँ उद्योगपर्व में और वहाँ भीष्म पर्व के गीता प्रकरण में दोनों स्थानों पर ही कृष्ण ने खण्डन किया है। फिर यह कहना तो और भी विचित्र और असमञ्जस युक्त है कि उद्योगपर्व के इस प्रकरण में व्यक्त कृष्ण के विचार गीता में व्यक्त उनके विचारों से भिन्न हैं। हमें तो दोनों प्रकरणों में व्यक्त किये गये कृष्ण के विचारों में अद्‌भुत समता के दर्शन होते हैं।

पं० राजेन्द्रजी ने यहाँ लिखा है—"सञ्जय को दिये गये इस उत्तर में श्रीकृष्ण ने ज्ञान की अपेक्षा कर्म की श्रेष्ठता पर बल दिया है और उसमें राज्य प्राप्ति के लिये जिस क्षात्र धर्म का वर्णन है वह ही श्रीकृष्ण जैसे नीति निपुण, धर्मात्मा एवं कुशल राजनीतिज्ञ का सामयिक और समुचित उत्तर हो सकता है।"(पृष्ठ २५) हमारा निवेदन है कि ज्ञान पर कर्म की श्रेष्ठता (सन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म का महत्व) तथा क्षात्र धर्म के आधार पर युद्ध की अनिवार्यता यही बातें गीता में भी कही गई हैं। अतः इन दोनों प्रसङ्गों में व्यक्त किए गये कृष्ण के उपदेशों में असङ्गति ढूँढ़ना और इसके आधार पर गीतोक्त विचारों की आलोचना करना अयुक्त है।

पं० राजेन्द्र जी ने गीता के विभिन्न अध्यायों के विभिन्न नामों यथा सांख्ययोग, कर्मयोग, कर्म संन्यास योग, ज्ञान विज्ञान योग पर आपत्ति उठाई है तथा गीता वर्णित विषय को असामयिक, अप्रासंगिक, परस्पर विरोधी तथा पुनरुक्ति दोष युक्त कहा है। गीता के अध्यायों के ये विभिन्न नाम उनकी पुष्पिकाओं में दिए गये हैं जो स्पष्ट ही परवर्ती हैं और महाभारत का मौलिक अंश नहीं हैं। अतः उन पर आपत्ति हो सकती

है। होनी चाहिये। परन्तु गीतोक्त विषय को सर्वांश में अप्रासंगिक, परस्पर विरुद्ध और पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता। उसकी सुसङ्गत व्याख्या की जा सकती है और विभिन्न व्याख्याकारों [पं० भीमसेन शर्मा, पं० तुलसीराम स्वामी, स्वामी आत्मानन्द सरस्वती] ने की भी है।

इन प्रमुख युक्तियों के अतिरिक्त पं० राजेन्द्रजी ने अर्जुन की उन कतिपय उक्तियों को भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है जिनमें या तो अर्जुन की कौरवों के प्रति उग्र भावनायें प्रकट हुई हैं, अथवा जिनके द्वारा वह समय समय पर युधिष्ठिर के हृदय में उत्पन्न विषाद को दूर करने में समर्थ हुआ है। इन प्रसङ्गों की अवतारणा के द्वारा पं० राजेन्द्रजी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जिस अर्जुन के हृदय में कौरवों के प्रति प्रतिशोध की इतनी तीव्र अग्नि जल रही थी और जो स्वयं अपने उत्साह जनक वाक्यों द्वारा युधिष्ठिर का मोह भङ्ग करने में समर्थ हुआ वह स्वयं गीता की पृष्ठभूमि में मोह और विषाद का कैसे शिकार हो गया ? परन्तु पूज्य पण्डित जी यह क्यों भूल जाते हैं कि मनुष्य की मनः स्थिति विभन्न परिस्थितियों पर विभिन्न प्रकार की हो सकती है।(इस सम्बन्ध में पीछे भी बिचार कर चुके हैं।)

आदरणीय पं० राजेन्द्रजी के विचारों की समीक्षा के अनन्तर महाभारत में गीता की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जिसे हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत रख सकते हैं—

[१] अर्जुन विषाद एक सत्य घटना है।अतः जिसे परिप्रेक्ष्य में गीतोपदेश की पृष्ठभूमि बनी उसे सत्य समझना चाहिये।

[२] युद्ध के इस प्रसङ्ग में अर्जुन के दैन्य भाव और उसके स्वभाव में उत्पन्न क्लीवता को देखते हुए कृष्ण ने उसको

जो प्रसङ्गोचित, समयोपयोगी उपदेश दिया उसे ही गीता के रूप में महाभारतकार कृष्ण द्वैपायन व्यास ने निबद्ध किया है।

[३] गीता के मुख्य भाग में कालान्तर में प्रक्षेपकारों द्वारा अवतारवाद, पौराणिकता तथा अद्वैतवादी विचारधारा के साधक श्लोक इसी प्रकार प्रक्षिप्त किये गये जिस प्रकार महाभारत के अन्य भागों में उन्होंने भारी मिलावट की थी।

[४] यह ठीक है कि युद्ध भूमि में किसी लम्बे प्रश्नोत्तर का अवसर और अवकाश नहीं हो सकता। श्री कृष्ण ने कर्म की श्रेष्ठता, कर्मयोग की महत्ता और वैदिक वर्णाश्रम धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कर्तव्य और मोह के दुराहे पर खड़े अर्जुन को अपने जिस सूत्रात्मक उपदेशसे कठोर किन्तु श्रेयस्कर कर्तव्य पथ का वरण करने को प्रेरित किया, उसे काव्योचित समझ कर कवि ने उसके माध्यम से अपनी प्रतिभा का प्रकाशन किया है।गीता में जो कुछ अवैदिक है,प्रकरण विरुद्ध है, अशिव है वह सर्वथा प्रक्षिप्त है, त्याज्य है। शेष गीता में व्यक्त किये गये विचार चाहे युद्ध की दृष्टि से सामयिक न हों, वे काव्य प्रतिभा से परिवर्द्धित और कृष्ण के आध्यात्मिक विचारों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः ग्राह्य हैं। गीता के प्रारम्भिक अंश (द्वितीय अध्याय–जो गीता का सर्वोत्कृष्ट उदात्त और महनीय अंश है) को तो पं० राजेन्द्र जी भी समयोचित और सम्बद्ध मानते हैं।

३—क्या भगवद्गीता एक रूपक मात्र है ?

भारतीय संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करने वाले यूरोपीय विद्वानों की यह एक परिपाटी रही है कि वे आर्य जाति के उत्कर्ष को सूचित करने वाले रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक महाकाव्यों को वास्तविक न मान कर कवि कल्पना मात्र सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार रामायण कृषि कर्म का रूपक है और महाभारत के युद्ध वर्णन के व्याज से कवि ने मनुष्य के हृदय में सतत विद्यमान दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष को काव्य निबद्ध किया है। महात्मा गान्धी की भी गीता के विषय में इसी प्रकार की धारणा थी। उन्होंने गीता के 'अनासक्तियोग' [1] नामक भाष्य में गीता को एक रूपक सिद्ध करते हुए पाण्डवों को दैवी प्रवृत्तियों और कौरवों को आसुरी प्रवृत्तियों का प्रतीक माना है। उनकी दृष्टि में मनुष्य का हृदय ही कुरुक्षेत्र है जहाँ इन परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों का शाश्वत संग्राम चलता रहता है।

वस्तुतः गीता को रूपक मानकर महाभारत के युद्ध को काल्पनिक मानना अतिरञ्जना मात्र है। महाभारत आर्य जाति के गौरव पूर्ण अतीत की वास्तविक कथा है। उसे झुठलाना इतिहास के एक महान् सत्य से मुख मोड़ना होगा। जब महाभारत को आर्य जाति के विगत अतीत का ज्वलन्त चित्र माना जायगा तब गीता को रूपक मानने का तो कोई आधार ही नहीं रहेगा। श्री अरविन्द के विचार इस विषय में द्रष्टव्य हैं—'बहुत

---

१ मूल गुजराती ग्रन्थ की भूमिका।

से लोग कहते हैं कि महाभारत रूपक मात्र है। श्रीकृष्ण हैं भगवान्, अर्जुन है जीव, धार्तराष्ट्रगण अर्थात् दुर्योधन आदि हैं काम क्रोधादि रिपु और पाण्डव सेना है मुक्ति के अनुकूल वृत्तियाँ। परन्तु ऐसा कहने से जैसे एक ओर महाभारत को काव्य जगत् में एक हीन स्थान प्राप्त होता है वैसे ही दूसरी ओर गीता को गम्भीरता, व्यक्ति के जीवन में उसकी उपयोगिता तथा मानव जाति की उन्नति कराने वाली उसकी उच्च शिक्षा पूर्णतया नष्ट होती है। कुरुक्षेत्र का युद्ध केवल गीता चित्र का ढांचा ही नहीं है, बल्कि वह गीता की शिक्षा का मूल कारण है तथा गीतोक्त धर्म को सम्पादित करने का श्रेष्ठ क्षेत्र है। यदि कुरुक्षेत्र के महायुद्ध का काल्पनिक अर्थ स्वीकार किया जाय तो गीता का धर्म वीरों का धर्म, संसार में आचरण करने योग्य धर्म नहीं रह जायगा, बल्कि वह संसार के लिये अनुपयोगी, शान्त, संन्यास धर्म में परिणत हो जायगा।''[१]

ऐसी स्थिति में गीता को रूपक मानना न्याय्य नहीं है।

—०❀०—

१ गीता की भूमिका : श्री अरविन्द पृ० ११-१२ द्वितीय संस्करण श्री अरविन्द आश्रम पाण्डीचेरी १९५४ ई.

४—गीता और वेद

भारत वासी आर्यों के लिये वेद परम पवित्र ईश्वरीय वाणी होने के कारण सर्वोपरि पूज्य और स्वतः प्रमाण हैं। वेदों का अपौरुषेयत्व और ईश्वर कर्तृत्व स्वतः वेदों की अन्तः साक्षी से तो सिद्ध है ही, वेदातिरिक्त अन्यान्य ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों की साक्षी भी इस तथ्य को पुष्ट करने में सहायक है। धर्मशास्त्रकारों के शिरोमणि भगवान् मनु के शब्दों में तो वेद अखिल धर्म का मूल है।[1] वेद का अध्ययन छोड़ कर जो द्विज अन्य शास्त्रों में श्रम करता है वह इस जीवन में ही सपरिवार शूद्रत्व को प्राप्त होता है।[2] सेनापत्य, राज्य, दण्डनीति, सर्वलोकाधिपत्य की सिद्धि वेद शास्त्रज्ञ ही कर सकता है।[3] चातुर्वण्य, लोकत्रय, आश्रमचतुष्टय, भूत, भविष्य और वर्तमान में अन्य भी जो कुछ, है वह वेद से ही प्रसिद्ध होता है।[4] इन प्रमाणों की विद्यमानता में वेदों का महत्व आर्य जाति के लिये निर्विवाद है।

क्या गीता भी वेदों को इतना ही महत्व देती है ? यह प्रश्न ही निरर्थक है क्योंकि वेदों की अवहेलना, अवमानना या

---

१ वेदोऽखिलो धर्म मूलम्।

२ योऽनधीत्य द्विजोवेदः अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वं आशु गच्छति सान्वयाः॥

३ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्व मेवच।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति॥

४ चातुर्वण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यंच सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥

उनको न्यून महत्व देकर कोई भी ग्रन्थ या शास्त्र वैदिक धर्मियों के लिये आदरास्पद नहीं हो सकता। यहाँ तो जिन सम्प्रदायाचार्यों और साम्प्रदायिक ग्रन्थों ने वेदों के प्रतिकूल भी अपने सिद्धान्तों का निर्माण और सृजन किया उन्होंने भी अपने सिद्धान्तों के वेद मूलक होने की दुहाई दी, चाहे व्यवहारतः और तत्वतः वे वेद के विरोधी ही क्यों न थे। ऐसी स्थिति में गीता को वेद के प्रतिकूल बताना अथवा यह कहना कि गीता में वेदों की निंदा की गई है, समझ में न आने वाली बात है। आखिर वेदोंका विरोध कर के बेचारी गीताके लिये ठिकाना ही कहाँ था?

हाँ, यह ठीक है कि सम्प्रदायवादियों द्वारा गीता का अति महत्व प्रदर्शन वेद प्रचार में परोक्षतः बाधक सिद्ध हुआ है। साथ ही यह भी सत्य है कि कुछ विद्वानों द्वारा गीता के प्रत्येक स्थल को वेदानुकूल सिद्ध करने का प्रयास निष्प्रयोजन बुद्धि व्यायाम से अधिक कुछ नहीं है। श्रद्धेय पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है — "बाल की खाल खींची जा सकती है। परन्तु गीता के सभी स्थलों को वेदानुकूल सिद्ध नहीं किया जा सकता। हाँ, यह मानना पड़ेगा कि गीता वेदों का मान करती है।"

यहाँ श्रद्धेय उपाध्याय जी ने अपने मत की पुष्टि में गीता के निम्न श्लोकों को उद्धृत किया है :—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ १६।२३।२४

जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से वर्तता है वह न तो सिद्धि प्राप्त करता है न सुख और न परम

गति को ही पाता है। अतः कर्तव्य और अकर्तव्य के ज्ञान के लिए शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के विधान को जानकर ही कर्म करना योग्य है। पूर्व मीमाँसा के मतानुसार वेद ही एक मात्र ऐसे ग्रन्थ हैं जो मनुष्य को कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान कराते हैं। श्रद्धेय उपाध्याय जी लिखते हैं—"यहाँ शास्त्र का अर्थ 'वेद' ही है और वेद के अनुकूल आचरण होने पर ही यहाँ बल दिया गया है। अतः वेद के प्रति गीताकार की कितनी उच्च सम्मति है, यह इन श्लोकों से स्पष्ट हो जायगा"। श्री पं० राजेन्द्र जी उपर्युक्त श्लोकों में 'शास्त्र' शब्द से वेद का तात्पर्य ही नहीं लेते।[1] पता नहीं ऐसा करने में उनके पास क्या प्रमाण है।

वस्तुतः गीता में मुख्यतया निष्काम कर्मयोग की शिक्षा दी गईहै जिसका मूल आधार यजुर्वेद का निम्नलिखित मन्त्र है--

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

[यजु० अ० ४० मन्त्र २]

अर्थात् मनुष्य इस लोक में निष्काम भाव से कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार किये हुये कर्म मनुष्य को लिप्त नहीं करते। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

गीता के कई श्लोकों को तो वेद मन्त्रों का उल्था(अनुवाद) कहा जा सकता है।उदाहरणार्थः—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

---

१ गीता विमर्श पृष्ठ ६४

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

[यजु० अ० ४० मन्त्र ५]

अर्थात् वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और समीप भी है । वह समस्त जगत के अन्दर भी है और इसके बाहर भी है।

अब इसी सम्बन्ध में गीता का श्लोक देलिये:—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

[गीता अ० १३, श्लोक १५]

अर्थात् वह प्राणियों के अन्दर भी है और बाहर भी है, चलने वाला भी है और न चलने वाला भी है। सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा न जाना जाने वाला तथा दूर भी है और पास भी है।

यजुर्वेद के ४० वें अध्याय का छठा मन्त्र है :—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥

[यजु० अ० ४०, मन्त्र ६]

अर्थात् जो मनुष्य सब प्राणियों को अपने में और सब प्राणियों में अपने को देखता है, वह फिर संशय को प्राप्त नहीं होता है।

गीता के निम्नलिखित श्लोक में भी यही भाव प्रदर्शित है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

[गीता अ० ६, श्लोक २९]

अर्थात् योग से युक्त आत्मा वाला तथा सर्वत्र समदृष्टि रखने वाला पुरुष सब प्राणियों में अपने को और सब प्राणियों को अपने में देखता है।

गीताकार वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानता है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से प्रगट है :—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

[गीता अ० ३, श्लोक १५]

अर्थात् कर्म का विधान वेद में है और वेद अविनाशी परमात्मा के प्रगट किये हुये हैं इसलिये सर्वव्यापक ब्रह्म की सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठा होती है।

निम्न लिखित श्लोक से भी प्रगट है कि गीताकार वेद के जानने वालों को ब्रह्मज्ञानी मानता है :—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

[गीता अ० ८, श्लोक ११]

अर्थात् वेद के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं और जिसमें रागरहित योगी लोग प्रवेश करते हैं।

वेदों के प्रति इस प्रकार का स्पष्ट सम्मान व्यक्त कर देने पर भी वर्त्तमान ७०० श्लोक वाली गीता में ऐसे स्थलों का सर्वथा अभाव नहीं है जिनमें वेद निन्दा की गन्ध ढूँढ़ी जा सकती है। निश्चय ही यह प्रक्षेपकारों का पाप है। और कुछ स्थलों पर तो प्रक्षेपकारों का वेद-विरोध साफ २ तैर कर आ गया है। उदाहरणार्थ :—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

[गीता अ० २, श्लोक ४५,४६]

अर्थात् हे अर्जुन, वेदों में त्रिगुणात्मक सृष्टि का विषय वर्णित है। तू इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित होकर, नित्य वस्तु में स्थित रहता हुआ, योग और क्षेम की पर्वा न करता हुआ आत्मिक बल वाला बन। जब चारों ओर पानी भरा हुआ हो तो एक छोटे से जलाशय की जितनी आवश्यकता रह जाती है, उतना ही प्रयोजन एक ज्ञानी ब्राह्मण का वेदों से रहता है।

एक ओर तो गीता में ऐसे श्लोक हैं जिनमें वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना गया है और दूसरी ओर वह श्लोक हैं जिनमें वेदों की निन्दा है अतः प्रगट है कि यह एक व्यक्ति के लिखे हुये नहीं हो सकते। इसलिये बुद्धिमानों को चाहिये कि इस प्रकार के श्लोकों को, जिनमें वेदों की निन्दा है, प्रक्षिप्त ही समझें।

आदरणीय पं० राजेन्द्र जी, श्री चक्खनलाल जी वेदार्थी तथा डा० श्री राम आर्य आदि ने अपने ग्रन्थों में गीता के कतिपय श्लोकों को प्रस्तुत करते हुए गीता में वेद-निन्दा की स्थिति को प्रगट किया है। हम उनसे असहमत नहीं हैं। वर्त्तमान गीता में वेद निन्दा परक श्लोक हैं, पर वे स्पष्टतः प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों के कारण ही सम्पूर्ण गीता को प्रक्षिप्त और अग्राह्य बताना किसी प्रकार भी सङ्गत और न्याय्य नहीं है।

हमारे कतिपय आर्य विद्वान् इन श्लोकों की व्याख्या में निम्न हेतु देते हुये इन श्लोकों को निर्दोष सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार यह निन्दा वेदों की निन्दा न होकर वेद के नाम पर किये जाने वाले अनावश्यक जटिल और वेद-विरुद्ध कर्मकाण्ड की है। वे कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश में एक युग ऐसा आया जब कि वेद के नाम पर अत्यन्त जटिल, बोझिल और क्रिया काण्ड-संकुल याज्ञिक प्रक्रियाओं का प्रचलन हो गया था। यह सारी याज्ञिक प्रक्रिया वेद की मूल भावना के विपरीत थी क्योंकि उसमें वेद की महनीय शिक्षाओं की अवहेलना तथा उसके उदात्त स्वरूप की उपेक्षा ही की गई थी। ऐसे कर्मकाण्ड प्रिय लोग वेदों को लेकर अनावश्यक वाद विवाद खड़ा किया करते थे। उनकी दृष्टि पारमार्थिक न होकर इस लोक की भौतिक और स्थूल सिद्धियों को पा लेने तक ही सीमित थी। भोग और ऐश्वर्य में आसक्त, स्वर्ग-सुख विशेष को ही मानव जीवन का चरम ध्येय मानने वाले ऐसे वेद-वादियों के प्रति गीता की ये उक्तियाँ वेद-निन्दा नहीं कहला सकतीं।

इसी प्रकार उनका कहना है कि वेदों को त्रिगुणात्मक कहने और अर्जुन (साधक) को उनसे ऊपर उठकर 'निस्त्रैगुण्य' होने का उपदेश भी अनुचित नहीं है। वेद तो सभी आध्यात्मिक और भौतिक विद्याओं का भण्डार होने के कारण 'त्रिगुणात्मक' कहला सकते हैं, परन्तु आध्यात्मिक साधना के सोपान पर चढ़ने वाला साधक तम और रज को छोड़ कर सत्वारूढ़ होगा ही, यहाँ तक कि त्रिगुणात्मक प्रकृति को त्याग कर चिन्मय ब्रह्मत्व का साक्षात् करेगा। यह वह स्थिति है जहाँ मनुष्य के लिए कुछ भी कर्तव्य कर्म शेष नहीं रह जाता। "स काष्ठा स

परांगति" उपनिषदों के शब्दों में वह पराकाष्ठा और परमगति है। तब निर्द्वन्द्व, नित्य सत्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् साधक के लिये त्रिगुणातीत होने का उपदेश किसी भी प्रकार अनुचित नहीं हैं, और न इससे वेद निन्दा ही सूचित होती है।

यदि सच में इन श्लोकों का आन्तरिक आशय यही होता तो हमें अत्यधिक प्रसन्नता होती। किन्तु प्रथम तो कर्तव्य विमुख अर्जुन को कर्त्तव्योन्मुख होने का उपदेश करते समय निर्द्वन्द्व और निर्योगक्षेम होने की बात कहना सर्वथा असंगत सा लगता है।फिर इस प्रकार के 'वेदवाद' की बात बुद्ध और महावीर के जन्म काल में तो सुनने को मिलती है, महाभारत में इसकी चर्चा नहीं मिलती। स्पष्ट ही शाङ्कर मतानुयायो प्रक्षेपकारों की यह लीला है। फिर जब हमारे ये विद्वान् गीता के कतिपय अन्य श्लोकों में वेद निन्दा को स्वीकार कर उनका प्रक्षिप्त होना मानते हैं तब इन श्लोकों को प्रक्षिप्त कोटि में न आने देने के लिए ऐसी क्लिष्ट कल्पनायें समझ में न आने वाली बात है।

इस प्रकार जहाँ हमारे कतिपय विद्वान् गीता के इन श्लोकों को भी वेदानुकूल सिद्ध करने का यत्न करते हैं, वहां दूसरे कुछ विद्वान् पूर्वाग्रह वश गीता को सर्वथा ही वेद विरोधी बताने में अपने पाण्डित्य का प्रकाशन करते रहते हैं।

श्री वेदार्थीजी को तो गीता में वेद निन्दा इतनी अधिक दिखाई दी और इसे सिद्ध करने में वे इतने दूर चले गये कि जिसकी कोई सीमा नहीं। आप लिखते हैं कि "ब्रह्म का अर्थ वेद कहीं भी गीताकार ने नहीं किया है।"[1] जब कि गीता के तृतीय अध्याय के १५ वें श्लोक में ही 'कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि' कह कर गीताकार कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म (वेद) से बताता है।

---

१ गीता समीक्षा, पृष्ठ ३५

गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित गीता की सर्वजन सुलभ टीका में भी गीता का यही अर्थ किया गया है—"तथा उस कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।" यहां 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' वाली कहावत चरितार्थ होती है। गीता के सभी टीकाकार 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेद' करते हैं जब कि वेदार्थीजी 'ब्रह्म' का निराला अर्थ 'ब्रह्मा' करते हैं। ब्रह्म का अर्थ पौराणिक त्रिदेवों में से एक 'ब्रह्मा' करने की सनक में ही श्री वेदार्थी जी चतुर्थ अध्याय के ३२ वें श्लोक —'एवं बहुविधा यज्ञा विततो ब्रह्मणो मुखेः' का अर्थ करते हैं—"इस प्रकार के विविध यज्ञ ब्रह्मा के मुख से कहे गये हैं।"[२] जब कि गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित गीता में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है —"ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार किये गये हैं।" 'ब्रह्मणो मुखेः' का अर्थ वेद की वाणी ही लिया जा सकता है, न कि पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा के मुख। परन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि ब्रह्म का अर्थ वेद के अतिरिक्त और कुछ लिया ही नहीं जा सकता। प्रकरणान्तर में उसका अर्थ परमात्मा भी लिया जाता है। अतः जब "ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः विविधः स्मृतः" इस सत्रहवें अध्याय के २३वें श्लोक में स्वामी आत्मानन्द जी तथा अन्य टीकाकारों ने 'ब्रह्म' का अर्थ 'परमात्मा' लिया और ओम्, तत् तथा सत् को उसी ब्रह्म का वाच्य बताया तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। यहाँ भी वेदार्थी जी द्वारा यह लिख कर स्वामी आत्मानन्द जी के कथन की टीका करना कोई महत्व नहीं रखता कि [१९] स्वामी जी स्वयं निम्न श्लोक (१७।२३)

---

२ गीता समीक्षा पृष्ठ ३६

में ब्रह्म का अर्थ वेद नहीं स्वीकार किया।"[१] यह कौन कहता है कि ब्रह्म का अर्थ सर्वत्र वेद ही लिया जायगा ? प्रकरणानुकूल उसके परमात्मा, वेद, प्रकृति, वीर्य आदि अनेक अर्थ शास्त्रों में लिये गये हैं। किन्तु उक्त श्लोक (गी० ३।१५) में ब्रह्म का अर्थ वेद ही है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार वर्त्तमान गीता को सर्वथा वेदानुकूल सिद्ध करने या गीता में एक भी श्लोक वेद निन्दा परक नहीं हैं ऐसा पूर्वाग्रह रखते हुए हमारे विद्वानों द्वारा गीता के अर्थों में की गई खींचातानी अग्राह्य है, गीता को सर्वथा अमान्य सिद्ध करने के आवेश में की गई यह खींचातानी भी क्यों कर उचित मानी जा सकती है ? वस्तुतः पूर्वाग्रह किसी ओर भी हो, उचित नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मूलतः गीताकार वेदों का प्रशंसक है। यह स्पष्ट है कि गीता वेद का स्थान न तो कभी ले सकती है और न ऐसा करने का प्रयास ही गीता कार का है। हाँ, वर्त्तमान गीता में वेद निन्दा परक और वेदों के महत्व को न्यून करने वाले श्लोक हैं अवश्य किन्तु वे निश्चय ही प्रक्षेपकारों की करतूत हैं। अतः वेद निंदा के नाम पर गीता का विरोध करना हमारी दृष्टि में उचित नहीं है। यहाँ हम सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् और विचारक राजनीतिज्ञ डा० सम्पूर्णानन्दजी का मत उद्धृत करना उचित समझते हैं जो वेदों और गीता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है— " गीता निश्चय ही एक महती कृति हैं, किन्तु यह हमारे लिये स्वतःप्रमाण नहीं अथवा धर्म की सबसे बड़ी पुस्तक नहीं है। यह पद वेदों को ही प्राप्त है।"[२]

---

१ गीता समीक्षा पृ० ३६

२ बीकानेर में आयोजित गीता सम्मेलन के व्याख्यान का अंश।

५—गीता और उपनिषद्

महाभारत में कथित गीता माहात्म्य का निम्न श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धाः गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतंमहत्॥

अर्थात् सारी उपनिषदें गायें हैं, गोपाल नन्दन कृष्ण उनका दूध दुहने वाले हैं, अर्जुन वत्स है, सुधी पाठक इस दूध के पीने वाले हैं और गीता ही यह मधुर दूध है। इस श्लोक का यह अर्थ करना कि गीता उपनिषदों का सार है और इसलिए गीता के पढ़ लेने पर उपनिषदों आदि के पठन-पाठन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, उचित नहीं है। उपनिषदें गाय हैं अर्थात् दुग्ध का भण्डार हैं। गीता में वैदिक ऋषियों के उसी ज्ञान भण्डार का अंश है। इस रूपक को इस अर्थ में सही माना सकता है कि गीता में जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, वे उपनिषदों में पहिले से ही वर्णित हैं। गीता की प्रधान शिक्षा 'फलासक्ति को छोड़कर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करना' उपनिषदों में प्रधान ईशोपनिषद् की प्रमुख शिक्षा से मिलती जुलती ही है। गीता में अनेक ऐसे श्लोक हैं जो थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ उपनिषदों में मिलते हैं। हमने अपनी गीता व्याख्या में ऐसे श्लोकों के समानान्तर उपनिषद् वाक्यों को उद्धृत किया है। यहाँ उनका संकेत रूप में निर्देश किया जाना ही पर्याप्त है।

भगवद्गीता	उपनिषद्
य एनं वेत्ति हन्तारं ॥२ । १९	हन्ताचेन्मन्यतेहन्तुं ॥ कठ २।१८
न जायते म्रियते ॥२ । २०	न जायते म्रियते ॥ कठ २। १८
आश्चर्य वत्पश्यति ॥२ । २९	श्रवणायापि वहुभिर्यो ॥कठ २। ७
इन्द्रियाणि पराण्याहु ॥३ । ४२	इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था ॥कठ ३।१०
कविं पुराणमनुशासितारं॥८।९	अणोरणीयान् महतोमहीयान् ॥कठ
यदक्षरं बेदविदो वदन्ति॥८।११	सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति॥कठ२।१५
ऊर्ध्वमूलमधः शाख ॥१५ । १	ऊर्ध्वमूलो ऽवाक्शाखा ॥कठ. ६।१

ऊपर की तुलना से यह विदित होता है कि गीता अधिकांशमें कठोपनिषद्से प्रभावित है। कहीं २ गीतोक्त सिद्धान्तों में श्वेताश्वर उपनिषद् का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गीता को कालान्तर में एक स्वतन्त्र उपनिषद् का ही स्थान प्राप्त हो गया क्योंकि उसकी प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में लिखा मिलता है--श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे' आदि। निश्चय ही गीता का उपनिषदों से घनिष्ट सम्बन्ध है।

× × ×

इस लेख से हमारा तात्पर्य इतना ही है कि पाठकों को यह सुविदित हो सके कि गीता वेदों और उपनिषदों के आधार पर लिखी गई है। अतः गीता में जो कुछ वेद और उपनिषद् आदि के मन्तव्यों के विरुद्ध है वह प्रक्षिप्त होने से अमान्य और अग्राह्य है।

—०❀०—

६—गीता प्रतिपादित दर्शन

गीता में किस दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण हुआ है, इस प्रश्न को लेकर विचारकों में बड़ा मतभेद रहा है। वस्तुतः विभिन्न दार्शनिक मतवादियों के लिये गीता अपने अपने सिद्धान्तों को निरूपित करने का एक सुगम माध्यम रही है। गीता के उपलब्ध प्राचीनतम टीकाकर शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त की विचार धारा के आधार पर गीता के दर्शन को प्रस्तुत किया। उनकी सम्मति में गीता में ब्रह्म की एक और अद्वितीय सत्ता की स्थापना की गई है। जहाँ भेदवादी विचारों के दर्शन गीता के श्लोकों में होते हैं, उनकी खींचतान कर अद्वैतपरक व्याख्या करने की चेष्टा की गई। शंकर ने तो यहाँ तक कह दिया कि गीता एक मात्र ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन करती है। उसमें कर्म के विधान को ढूँढ़ना अनुचित है। शंकर के परवर्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि अन्यान्य सम्प्रदायाचार्यों ने भी अपनी अपनी दृष्टि से गीता में से स्व-मनोनुकूल सिद्धान्त ढूँढ़ निकाले और साम्प्रदायिक अर्थों की सिद्धि के लिये उन्होंने श्लोकों के मूल भाव को छोड़ कर अर्थ का अनर्थ करने में भी संकोच नहीं किया। गीता के वर्त्तमान रूप को दार्शनिक दृष्टि से 'त्रिदोष का सन्निपात' बताते हुए ऋषि दयानन्द ने ठीक ही लिखा है — "उसमें कहीं तो जीव ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित है, कहीं पृथक्त्व देखने में आता है और कहीं प्रकृति और पुरुष का पृथकत्व माना है।"

बात यह है कि गीता का जो वर्त्तमान रूप हमें उपलब्ध होता है उसमें ऐसे कई श्लोक पाये जाते हैं जिनसे साम्प्रदायिक

मनोवृति वाले आचार्यों को अपना मन्तव्य निकाल लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई अथवा कहना चाहिए कि इन विविध साम्प्रदायिकों ने अपने २ मन्तव्य की पुष्टि के लिये समय समय पर महाभारत के अन्य स्थलों की भाँति गीता में भी प्रक्षेप कर डाला. परन्तु यह तो गीता के दर्शन को अनिर्णयात्मक स्थिति पर पहुँचा देना हुआ। यदि गीता में एक व्यवस्थित, तर्कसंगत और युक्ति पूर्ण दार्शनिक विचार सरणि के दर्शन नहीं होते तो इसका कारण है उसमें पाये जाने वाले परस्पर विरोधी दार्शनिक सिद्धान्त। गीता में सांख्य, योग, वेदान्त सभी के विचार पाये जाते हैं। वेदान्त में भी जो परवर्ती अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि के दार्शनिक मतभेद पाये जाते हैं उनके पोषक श्लोक भी गीता में एकाधिक स्थान पर मिलते हैं।

वस्तुतः ईश्वर, जीव और प्रकृति इनका अनादित्व ही वैदिक दर्शन का मूल आधार रहा है। वेदों में "द्वासुर्पणा सयुजा सखाया समानं वृक्षं" आदि मन्त्रों तथा उपनिषदों में "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्ण" आदि वाक्यों द्वारा ईश्वर, जीव, प्रकृति की अनादि सत्ता को ही स्वीकार किया है। गीता के जिस शुद्ध स्वरूप की व्याख्या हमने इस संस्करण में की है उसमें गीता द्वारा प्रतिपादित इसी विशुद्ध दर्शन की उपलब्धि होती है। निम्न उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा।

जीव से भिन्न परमात्मा की सर्वोच्च सत्ता का वर्णन त्रयोदश अध्याय के निम्न श्लोकों में पाया जाता है—

ज्ञेयं यत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १३।१२

यहाँ परमात्मा को ज्ञेय (जानने योग्य) कहा गया है

जिसे जानकर जीव अमरता को प्राप्त होता है। वह अनादि तथा सत् और असत् से भिन्न है।

उपनिषद् में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन जिस शैली में किया गया है, उसी से मिलती जुलती शैली गीता के निम्न श्लोकों में भी पाई जाती है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४
बहिरन्तस्व भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६

सर्वत्र पाणि, पाद, नेत्र, शिर, मुख, श्रोत्र आदि इन्द्रियों वाला वह परमात्मा सबको आवृत्त करके स्थिर है। वस्तुतः उसके कोई इन्द्रिय नहीं है, फिर भी वह इन्द्रियों के होने का आभास सा देता है, वह सर्व जीवों का पोषण करने वाला निर्गुण और सगुण दोनों ही है। प्राणियों के बाहर और भीतर, सूक्ष्म होने से अविज्ञेय, दूर तथा निकट है। प्राणियों में अविभक्त फिर भी विभक्त की भाँति (पृथक् पृथक् प्राणियों में पृथक् परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है) दिखलाई देता है। प्राणियों का भर्ता, उनका विनाशक तथा उत्पन्न कर्त्ता है।

अगले श्लोक में इस परमात्मा को ज्योतियों का ज्योति तथा अन्धकार से परे बताया गया है। वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान-गम्य है तथा सबके हृदयों में स्थित है। ब्रह्म की परम सत्ता की व्याख्या इसी अध्याय के २० वें श्लोक में भी हुई है

जिसमें उसे द्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा गया है।

जीवात्मा और प्रकृति भी अनादि है तथा परमात्मा से भिन्न हैं, यह बात इसी अध्याय के १९ वें श्लोक में कही गई है–

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्॥

हे अर्जुन! प्रकृति तथा जीवात्मा (पुरुष) इन दोनों को ही तू अनादि जान तथा यह भी समझ ले कि रूप और गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुये हैं। यहाँ स्पष्ट ही जीवात्मा और प्रकृति को अनादि स्वीकार करते हुये कार्य रूप में अवस्थित सृष्टि के व्यापार को प्रकृति का विकार और उसकी त्रिगुणात्मक शक्ति से उत्पन्न बताया गया है।

वेद प्रतिपादित इस त्रैतवादी विचारधारा के दर्शन हमें गीता के पन्द्रहवें अध्याय के निम्न श्लोकों में भी होते हैं जहाँ स्पष्टतया जीव, ईश्वर और प्रकृति को अनादि स्वीकार करते हुये तीनों का पृथक् २ वर्णन किया गया है:—

द्वाविमौ पुरुषौ लोकेक्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६
उत्तम. पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७

इस संसार में दो पुरुष हैं— एक नश्वर (प्रकृति) और दूसरा अनश्वर (जीव)।ये सब भूत पदार्थ (जिनका मूल कारण अनादि प्रकृति है) 'क्षर' कहलाते हैं तथा अक्षर जीव कूटस्थ आत्मा कहलाता है। परन्तु इन दोनों से भिन्न उत्तम पुरुष एक अन्य है जिसे परमात्मा कहते हैं जो इन तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर इनका भरण पोषण करता है। इस वर्णन की विशेषता

यह है कि यहाँ तीनों अनादि सत्ताओं को एक ही 'पुरुष' संज्ञा से सम्बोधित किया गया है,फिरभी उनका पारस्परिक वैभिन्य बता कर त्रैतवादी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है।

गीता में उक्त इन दोनों प्रसंगों की सूक्ष्म आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी मौलिक विचारधारा क्या रही होगी। अठारहवें अध्याय में भी "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (१८।६१) आदि श्लोको में सब प्राणियों के हृदय में स्थित ईश्वर का वर्णन पृथक् ही हुआ है।

त्रैतवाद की सिद्धि के अतिरिक्त गीता में सांख्य मत के अनुसार मूलकारण प्रकृति से महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पंच महाभूत,एकादशेन्द्रियां आदि के रूप में व्यक्त सृष्टि की रचना, प्रक्रिया और विकास के सिद्धान्त का भी उल्लेख हुआ है[1]। दार्शनिकमतों में सांख्य का सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना गया है। उसकी गीता में अवस्थिति गीता की प्राचीनता और प्रामाणिकता का एक हेतु मानी जा सकती है। इसी प्रकार गीता में योगदर्शन की साधना प्रणाली का भी उल्लेख मिलता है[2]जो यह सिद्ध कर देने के लिये पर्याप्त है कि गीता सांख्य,योग और वेदान्त तीनों दर्शनों की विचारधारा का अनुसरण करती है। स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर षड्दर्शन के समन्वयात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया है और यह सिद्ध किया है कि ये दर्शन परस्पर विरुद्ध न होकर एक दूसरे के पूरक ही हैं। गीता में भी सांख्य, योग और वेदान्त का यह समन्वय इसी सामञ्जस्य मूलक दृष्टिकोण को चरितार्थ करता है।

यह अवश्य है कि कालान्तर में शंकर और रामानुज तथा अन्य आचार्यों ने गीता के मूल मन्तव्य को तोड़ मरोड़ कर

(१) अध्याय १३।५ (२) अध्याय ६। ११, १२, १३

स्वमत प्रतिष्ठा का जो प्रयत्न किया वह आपत्तिजनक कहा जायगा। परन्तु उसमें भी गीता में पाये जाने वाले "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"(१५।७) जैसे श्लोक ही कारण कहे जा सकते हैं, जिनके आधार पर विशिष्टाद्वैत आदि अवैदिक मतों को स्थापित करना सम्भव हो सका। वस्तुतः गीताकार विशुद्ध त्रैतवाद का ही समर्थक है। अतः अन्य कथित दार्शनिक मन्तव्यों के समर्थन में प्रस्तुत किये जा सकने वाले श्लोकों को प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए।

—:※:—

७—गीतोक्त नीति शास्त्र

गीता का नीति और आचार शास्त्र की दृष्टि से विशिष्ट महत्व है। आर्यों का नीतिशास्त्र वेद मूलक है। वेद में जिन नैतिक मान्यताओं और आचार विषयक मूल्यों की स्थापना हुई उन्हें ही उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, परवर्ती स्मृति, इतिहास, काव्य, पुराण आदि ग्रन्थों में पल्लवित किया गया। गीता का नीति शास्त्र वस्तुवादी दर्शन और आदर्शवाद का एक संतुलित मिश्रण है। उसका सर्वाधिक बल कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करने पर है। यही निष्काम कर्म के प्रति निष्ठा गीता के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय में व्यक्त हुई है। द्वितीय अध्याय में स्थितिप्रज्ञ व्यक्ति के जो लक्षण बताय गये हैं वे उस कर्म योगी में पूर्णतया घटते हैं जिसे कृष्ण ने तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मनिष्ठों से भी श्रेष्ठ बताया है।[1] गीता के इन अध्यायों की निम्न सूक्तियाँ ही उसके कर्म विषयक सिद्धान्त को स्पष्ट करती हैं :— **'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' ।२।४ कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं। 'समत्वं योग उच्यते' २। ४८ समत्वभाव ही योग है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' — कर्म में कुशलता ही योग है।**

कर्मयोग की स्थापना के साथ ही गीता को वे सभी वैदिक नैतिक मान्यतायें स्वीकार हैं जिन्हें प्राचीन ग्रन्थों में स्थान दिया गया है। यज्ञ—यज्ञों के प्रति गीताकार की पूर्ण आस्था है,परन्तु वह यज्ञ' का अर्थ अग्निहोत्र ही न लेकर उसके विस्तृत अर्थ करता है। गीता को दृष्टि में जप, दान, प्राणायाम, आदि जितने श्रेष्ठ कर्म किये जाते हैं, वे सभी कर्म यज्ञ हैं। [गीता में उस जटिल और व्यर्थ के कर्मकाण्ड की आलोचना भी की गई है जिसमें आध्यात्मिक तत्व तो शून्य के बराबर होता है,

---

१ गीता ६।४६

परन्तु जो केवल भौतिक ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये किया जाता है। इस समीक्षा को यज्ञों का ढका हुआ अथवा प्रकट विरोध मानना उचित नहीं हैं। हाँ, कुछ इस प्रकार के जटिल और दुरूह कर्मकाण्ड की—आलोचना उपनिषदों में भी की गई है।[२] हाँ, वर्त्तमात गीता के कतिपय श्लोकों में कृष्ण को यज्ञों का अधीश्वर बताकर कृष्ण-भक्ति की महिमा प्रदर्शित की गई है। यह प्रक्षेपकारों की कलम की करामात है।

वर्णाश्रम धर्म—को गीता एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करती है। वेदानुसार गीता वर्ण व्यवस्था को गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार मानती है, अपने नियत वर्ण और आश्रम धर्म का पालन करके ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। कर्तव्य करते हुए यदि हमारा निधन भी हो जाय तो वह हमारे लिए श्रेयस्कर है, परन्तु अपने से विपरीत आचरण को स्वीकार करना अच्छा नहीं। इसे गीताकार ने 'स्वधर्म' की संज्ञा दी है। 'स्वधर्म' (वर्णाश्रम धर्म के अनुसार स्व-स्व कर्तव्य)पर गीता में विशेष बल दिया गया है। एक मनुष्य अपनी योग्यता, क्षमता और स्वभाव के अनुसार प्राप्त वर्ण और अपनी अवस्था के अनुसार प्राप्त आश्रम के लिये विहित कर्तव्य कर्म का पालन करे, यही गीताकार का 'स्वधर्म' है। क्षत्रिय यदि ब्राह्मण जैसा आचरण करेगा तो यह भयावह होगा, इसी प्रकार ब्राह्मण के निकट क्षत्रिय जैसा आचरण अश्रेयस्कर है। गृहस्थी यदि संन्यासी जैसा आचरण करे तो परिणाम सुखद न होगा और संन्यासी यदि गृहस्थी जैसा आचरण करें तो 'महती विनष्टि' निश्चित है। ब्रह्मचारी की गृहस्थों जैसी चर्या क्या विनाश का मार्ग ही नहीं खोलेगी? वर्णाश्रम धर्म, वैदिक धर्म का प्राण है। वर्णाश्रम धर्म का सनिष्ठ पालन

---

२ मुण्डकोपनिषद्—"प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा" आदि।

ही 'स्वधर्म' पालन है। वर्णाचार और वर्णधर्मों का विस्तृत वर्णन गीता के १८ वें अध्याय में किया गया है।

दैवी और आसुरी सम्पदा—का विवेचन करते हुए गीता मनुष्य को दैवी सम्पदा का स्वामी बनने के लिये प्रेरित करती है। इसी प्रसङ्ग में गीताकार ने सृष्टि के त्रिगुणात्मक स्वरूप और प्रत्येक वस्तु के त्रैविध्य का भी विचार किया है। यज्ञ, तप, दान, श्रद्धा, आहार, बुद्धि, धृति, सुख ये सभी सात्विक, राजस और तामस के भेद से तीन तीन प्रकार के हैं। इनमें सतोगुण को प्राप्त करना और उसकी वृद्धि करना मनुष्य का काम्य है। रजोगुण और तमोगुण हेय और त्याज्य हैं क्योंकि वे मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सहायक नहीं होते।

दैवी सम्पदा प्राप्त करने और आध्यात्मिक उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ने के लिए गीताकार उसी योग मार्ग का उपदेश देते हैं जो पातञ्जल योगदर्शन में निर्दिष्ट किया गया है। यह राजयोग के नाम से अभिहित होने वाला योग मार्ग साधना का सर्वोत्कृष्ट पथ है, जिस पर चल कर मनुष्य अपने आत्म-स्वरूपका दर्शन करते हुए परमात्मा का साक्षात्कार करता है। योग मार्ग के साधनों का विशद विवेचन गीताकार ने छठे अध्याय में किया है। यह योग शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर पूर्ण नियंत्रण कर आत्मा को उच्च स्थानों पर आरूढ़ करने का यत्न है जिसके लिए आहार, विहार, जागरण, निद्रा, सभी का संयम अपेक्षित है। संक्षेप में गीता का नीति-शास्त्र आर्यों का व्यावहारिक नीतिशास्त्र है जिसके सूत्र वेद उपनिषद, मनुस्मृति और योग दर्शन में मिलते हैं तथा जिसने परवर्ती बौद्ध और जैन आचार-दर्शन को भी किसी हद तक प्रभावित किया है।

८—ऋषि दयानन्द और गीता

आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का गीता के प्रति क्या विचार और दृष्टिकोण था, प्रस्तुत प्रकरण में हमें इसी विषय पर विचार करना है। यह एक प्रकट तथ्य है कि स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में तथा अन्य वार्तालाप आदि के प्रसंग में भी कहीं भी गीता को अप्रामाणिक फलतः हेय और त्याज्य ग्रन्थ घोषित नहीं किया। इसके विपरीत हम उनके जीवन-चरित में इस बात का उल्लेख पाते हैं कि स्वामी जी गुरुदण्डीजी की पाठशाला से शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् भी गीता की कथा करते हैं, तथा भक्तों को गीता पढ़ाते हैं। यह सत्य है कि इस समय तक भी उन्होंने ग्रन्थों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का पूरा निर्णय नहीं किया था, परन्तु धीरे२ उनके विचारों में निश्चयात्मकता आती गई। जिन देवी भागवत, दुर्गासप्तशती, शिवपुराण आदि ग्रन्थों का अब तक पाठ चलता रहा था, वह अब समाप्त हो गया। यहीं तक नहीं, इनके विरुद्ध उनकी निश्चित सम्मति भी बन गई, परन्तु गीता के विरुद्ध उनका कोई विरुद्ध भाव नहीं बना।

श्री पं० राजेन्द्र जी ने 'ऋषि दयानन्द के पुण्य संस्मरण' नामक पुस्तक लिखी है जो श्रीमद्दर्शनानन्द ग्रन्थागार (सत्य प्रकाशन, मथुरा) से प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के 'प्रामाण्याप्रामाण्य' प्रकरण के अन्तर्गत पृ० १५६ पर स्वामी जी की गीता विषयक धारणा के सम्बन्ध में आपने निम्न उद्धरण दिया है :—

---

१ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र पृ० ८०

" मिर्जा पुर के बाबा बालकिशन वैरागी ने महाभारत पर टीका लिखी थी। उन्होंने महाभारत में केवल बत्तीस हजार श्लोक रखे थे, शेष प्रक्षिप्त बताकर निकाल दिये थे। गीता भी उन प्रक्षिप्त श्लोकों में थी। स्वामी जी को जब यह बताया गया तो उन्होंने कहा कि--गीता समस्त प्रक्षिप्त नहीं है। उसमें बहुत कुछ स्थल अच्छे हैं। हाँ, पीछे से कुछ मिलाया हुआ भी है"। (पं० लेखरामकृत उर्दू जीवन चरित्र पृ० १८०)

इसी प्रकरण में(पृष्ठ १५६)कर्णवास निवासी पं०भूमित्र शर्मा का लेख है:—"मैं स्वामीजी की सेवा में नित्य गङ्गातीर घाट पर जाकर संध्या पढ़ा करता था। एक दिन मध्यान्होत्तर ४ बजे के समय स्वामीजी के पास सब क्षत्रियादि श्रोता बैठे हुए थे। उसी समय ठाकुर गोपालसिंह के कारिन्दा लाला केसरीलाल कायस्थ ने प्रश्न किया कि महाराज, मैं गीता का पाठ किया करता हूँ, यह कैसी पुस्तक है ?' तब स्वामीजी ने उत्तर दिया कि गीता में सम्प्रदायी लोगों ने बहुत श्लोक मिला दिये हैं। उसमें ७। १०। ११। १२ अध्याय तो समग्र प्रक्षिप्त हैं और अन्य अध्यायों में भी किसी में दो किसी में १० किसी में ५ श्लोक अवतारवादादि के प्रक्षिप्त हैं—उनको छोड़कर शेष गीता शुद्ध है।

श्री पं० भूमित्र शर्मा जी ने मुझे बताया था कि स्वामी जी महाराज ने उक्त ला० केसरीलाल की गीता की पुस्तक में प्रक्षिप्त स्थलों पर चिन्ह लगा दिये थे। उस पुस्तक को पीछे इटावा निवासी पं० भीमसेन जी शर्मा (स्वामीजी महाराज के लेखक) वहाँ से ले गये थे और उसी के आधार पर प्रक्षिप्त भाग निकालकर एक गीता भाष्य प्रकाशित किया था —लेखक।

इन उद्धरणों से ऋषि दयानन्द का गीता विषयक् दृष्टि-

कोण सर्वथा सुस्पष्ट है। पं० राजेन्द्र जी ने अपनी प्रणीत 'ऋषि दयानन्द और गीता' के पृ० ११ पर इन उद्धरणों का अवमूल्यन इस आधार पर करने का प्रयत्न किया है कि प्रथम उद्धरण संवत् १९२६ का है तथा द्वितीय १९२४ का। परन्तु प्रश्न तो यह है कि स्वामी जी ने अपने गीता विषयक् उक्त दृष्टिकोण का प्रतिवाद कब और कहाँ किया है, जबकि सत्यार्थ प्रकाश के प्रणयन काल तक उसमें गीता के श्लोकों को उद्धृत करने के रूप में उन्होंने गीता के प्रति आदरभाव ही प्रकट किया है।

श्री पं० राजेन्द्रजी ने स्वामीजी के प्रसिद्ध जीवनी लेखक बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का मत उद्धृत किया है, कहते है कि ग्रन्थों के प्रामाण्य विषय में उनका किन्हीं अंशों में मत परिवर्तन हो गया था। भगवद्गीता को त्रिदोष का सन्निपात बतलाते थे और कहते थे कि उसमें कहीं तो जीव ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादित किया गया है और कहीं उनका पृथकत्व देखने में आता है और कहीं प्रकृति और पुरुष का पृथकत्व माना गया है।[२] यहाँ भी स्वामी दयानन्द गीता में विद्यमान विचारों को परस्पर विरुद्ध तो समझते हैं। (जिसका कि कारण प्रक्षेपकारों की लीला है) परन्तु वे गीता को सर्वात्मना त्याज्य ग्रन्थ नहीं कहते। यदि उन्हें ऐसा कहना ही अभीष्ट होता तो उन्हें क्या कठिनाई थी। अस्तु।

श्री पं० राजेन्द्रजी ने श्री कुन्दनलाल आर्य प्रधान–आर्य समाज बस्ती गुजां द्वारा लिखित एक अन्य लेख 'महर्षि दयानन्द और गीता' से प्रमाण प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि महर्षि ने एक पौराणिक पण्डित से अवतार–वाद के मण्डन में प्रमाण माँगते हुये हरिद्वार कुम्भ १९३६ वि० के अवसर पर कहा कि

२ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित पृ० २०३, २०४

"गीता कल की राँड है"। ऋषि-मुख से गीता के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। श्री कुन्दन लाल आर्य ने महर्षि का जो जीवन चरित्र लिखा है, उसमें अत्युक्तियों की भरमार है। वे ऋषि दयानन्द को 'पूर्ण पुरुष' लिखते हैं जबकि यह वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि 'पूर्ण पुरुष' केवल परमात्मा है। इसी प्रकार वे लिखते हैं कि ऋषि दयानन्द की ध्वनि पाँच मील तक जाती थी। (महापुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार की अत्युक्तियाँ ही कालान्तर में चमत्कार बनकर अनर्थ सृष्टि करती हैं।) उन्हीं श्री कुन्दनलाल जी आर्य के(स्वामी जी द्वारा गीता के सम्बन्ध में)उक्त शब्द हमारी दृष्टि में विश्वास योग्य नहीं हैं। इसका एक और भी कारण है, 'यदा यदाहि०' गीता के इस श्लोक पर महर्षि की समीक्षा सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समु० में भी मिलती है। वह समीक्षा अपने आप में कितनी मृदु है, यह देखने योग्य है। ऋषि वहाँ उक्त श्लोक की समीक्षा में यही नहीं, कहते हैं—'यह,बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं' इतना ही आगे के शब्दों से तो गीता के प्रति ऋषि की आदर बुद्धि सुस्पष्ट हो जाती है जब कि वे इसी श्लोक का बुद्धिगम्य और वेदानुकूल अर्थ करने का प्रयत्न करते हुए लिखते हैं:—"और ऐसा हो सकता है कि श्री कृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो कुछ दोष नहीं है। क्यों कि 'परोपकाराय सतां विभूतयः" परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है। तथापि इससे श्री कृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते"

यहाँ रेखाङ्कित शब्द मननीय हैं। जो ऋषि अपने अमर ग्रन्थ में अवतार वादियों के सर्वस्व इस श्लोक की भी वेदानुकूल

संगति लगाते हैं, क्या वे इसी श्लोक के प्रस्तुत होने पर गीता के सम्बन्ध में श्री कुन्दनलाल जी वाली शब्द योजना का प्रयोग कर सकते हैं ? पुराणों के अनर्थ के प्रति ऋषि हृदय में जो आक्रोश था वह सत्यार्थ प्रकाश में ही स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है। पर गीतामें जो कुछ वेद विरुद्ध है उसकी अस्वीकृति के साथ ही गीता के सम्बन्ध में उनका आदर-पूर्ण दृष्टिकोण भी उक्त समीक्षा में मिलता है, जब वे अपनी विशिष्ट विवेचना द्वारा उसे दोषमुक्त करने की चेष्टा करते हैं। 'इसको हम नहीं मानते, कोई वेद का प्रमाण लाओ।"[1] तथा इसी प्रकार बनेड़ा के राजा गोविन्दसिंह जी को भी गीता का प्रमाण प्रस्तुत करने पर कहा, "हम गीता का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। आप वेद का प्रमाण दीजिये।"[2] पं० राजेन्द्र जी के मत से ये दो घटनायें महर्षि का गीता विषयक विरुद्ध विचार सूचित करती हैं। परन्तु हमें इन युक्तियों में सार प्रतीत नहीं होता। यह तो सर्व विदित तथ्य है कि महर्षि दयानन्द वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे। वेदों के आगे गीता की तो बात ही क्या, उपनिषद्, ब्राह्मण, और दर्शन तथा स्मृति ग्रन्थ भी महत्व नहीं रखते। पुनः गीता तो महाभारत जैसे ऐतिहासिक आर्ष काव्य ग्रन्थ का एक अल्पातिअल्प अंश मात्र हैं। अतः जो लोग गीता के आधार पर अवतारवाद आदि अवैदिक सिद्धान्तों की पुष्टि करते थे, उनसे स्वामी जी का वेदों का प्रमाण मांगना स्वाभाविक ही था। काशी शास्त्रार्थ में भी तो स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के विषय में स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री आदि पौराणिक पण्डितों द्वारा प्रस्तुत किये गये वेदेतर ग्रन्थों के प्रमाणों को

---

१ मासिक आर्यवीर जालंधर अगस्त १९६१

२ महर्षि दयानन्द का जीवन चरित पृ० ६५१

अस्वीकार करते हुये उनसे वेदों का प्रमाण प्रस्तुत करने का आग्रह किया था। अतः हमें पं० राजेन्द्र जी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त युक्तियों में कुछ भी सार प्रतीत नहीं होता,जो स्वामी जी का गीता विषयक विरुद्धमत सिद्ध करने के लिये दी गई हैं।

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में भगवद्गीता के बहुत से प्रमाण अपने मन्तव्यों की पुष्टि में प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ—सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में गीता का एक श्लोकार्ध 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामे ऽमृतोपमम्' (१८।३७) उद्धृत किया गया है।

इस प्रकरण में आदरणीय पं० राजेन्द्र जी लिखते हैं—"गीता का यह वचन एक सार्वभौम, सत्य (Universal truth) है, यह गीता की एक मात्र धरोहर नहीं"। बड़े विनीत भाव से हम निवेदन करना चाहेंगे कि यह कौन कहता है कि यह एक मात्र गीता की धरोहर है। हमारी तो मान्यता है कि 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।' हाँ, वेद सूर्य की किरणों से गीता ग्रन्थ भी शून्य नहीं है। स्वयं पण्डित जी स्वीकार करते हैं कि गीता का यह वचन सार्वभौम सचाई है। गीता में वर्णित ऐसी ही सार्वभौम सचाइयाँ वेदानुकूल होने से हमारे निकट मान्य और प्रामाणिक हैं। प्रक्षेपकारों की लीला से गीता में जो वेद विरुद्ध है, सार्वभौम सत्य (Universal truth) के विरुद्ध है, साम्प्रदायिक है, पक्षपात पूर्ण है वह हमें सर्वथा अग्राह्य और अमान्य है।

हाँ, यदि किन्हीं सज्जन ने इस प्रसङ्ग में यह कहा या लिखा हो कि गीता के इस श्लोकार्द्ध से ही ऋषि को सत्यार्थ-प्रकाश के प्रणयन की प्रेरणा मिली तो उन सज्जन का ऐसा

कथन भी सर्वथा भूल भरा और आदरणीय पं० जी के शब्दों में 'एक मिथ्या कल्पना' है।

चतुर्थ समुल्लास में जहाँ चातुर्वण्यव्यवस्था का उल्लेख हुआ है वहाँ मनुस्मृति के चातुर्वण्य कर्तव्य विधायक श्लोकों के साथ साथ गीता के भी १८।४२, ४३ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। संस्कार विधि के गृहाश्रम प्रकरण में भी यही श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में तो गीता के अवतारवाद प्रतिपादक इस प्रसिद्ध श्लोक—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।' को पूर्वपक्ष के रूप में लिख कर पुनः उसका समाधान करते हुए सिद्ध किया है कि कृष्ण के इस कथन से भी परमात्मा के अवतार की सिद्धि नहीं होती।

अष्टम समु० में गीता के १६।२ श्लोक को उद्धृत किया गया है जिसमें असत के भाव और सत के अभाव का निषेध किया गया है। यदि ऋषि दयानन्द की सम्मति में गीता एक मान्य और आदरास्पद ग्रन्थ नहीं होता तो वे स्वमत की पुष्टि के लिये न तो उसके उद्धरण ही देते और न यत्र तत्र अपने व्याख्यानों, प्रवचनों तथा सम्भाषणों में उसकी चर्चा ही करते। गीता के श्लोक स्वामीजी के ग्रन्थों में तो आये ही हैं, रावराजा तेजसिंह जी, मुन्शी समर्थदान तथा जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह जी को लिखे गये अपने पत्रों में भी स्वामीजी ने गीता के कई सूक्ति वाक्यों को ग्रथित किया है जिनमें निम्न-मुख्य हैं—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ २।३४

यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोक स्तदनुवर्तते ॥ ३।२१

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रे ऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसंस्मृतम् ॥ १८।३८

स्वामीजी द्वारा अपने ग्रन्थों और पत्रों में उद्धृत गीता के श्लोकों के महत्व का अवमूल्यन करते हुए पं० राजेन्द्रजी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इन उद्धरणों का कोई विशेष महत्व नहीं है।ये तो स्वामी जी के ग्रन्थों में उसी प्रकार अनायास ही आ गये हैं जिस प्रकार उनके ग्रन्थों में चाणक्य नीति, वृद्ध चाणक्य, भोज प्रबन्ध, सिद्धान्त शिरोमणि, मैत्र्युपनिषद् तथा भर्तृहरि नीति शतकादि के श्लोक सहज ही उद्धृत हो गये हैं। हमें इस तर्क में विशेष सार प्रतीत नहीं होता । यदि स्वामीजी भर्तृहरि और चाणक्य आदि नीतिकारों को स्वमत की पुष्टि में उद्धृत करते हैं तो हमारे पास यह मानने के लिए क्या कारण है कि इन नीतिकारों के प्रति उनका आदर नहीं था अथवा वे इन नीति ग्रन्थों को अप्रामाणिक मानते थे। इसी प्रकार यदि गीता का उद्धरण वे अपने ग्रन्थों में देते हैं तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनके हृदय में गीता या गीताकार के प्रति कोई आदर का भाव नहीं था। पता नहीं क्यों पं० राजेन्द्रजी ने स्वामीजी के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषयक निम्न विज्ञापन को अपनी पुस्तक 'ऋषि दयानन्द और गीता' के पृष्ठ २१ पर उद्धृत किया है जिसमें स्वामीजी लिखते हैं, 'सबको विदित हो कि जो जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश और संस्कार विधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे हैं, वे उन उन ग्रन्थों के मतों को जानने के लिए लिखे हैं, उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्र-

माण मानता हूँ। जो बात वेदार्थ से निकलती है, उन सबको प्रमाण करता हूँ क्योंकि वेद ईश्वर वाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है।" यह तो स्वामीजी का सर्वतन्त्र सिद्धान्त ही है कि वेदानुकूल को प्रमाण मानना,वेद विरुद्ध को नहीं। इसी सिद्धान्त के अनुसार गीता में भी जो वेदानुकूल है उन्हें स्वीकार्य है, वेद-विरुद्ध नहीं। स्वामीजी के इस मन्तव्य से यह ध्वनि निकालना अर्थ का अनर्थ करना होगा कि उन्हें वेद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मान्य नहीं था।

श्री पं० राजेन्द्रजी की अनूठी कल्पना !

सत्यार्थ प्रकाश में—ब्राह्मण के लक्षणों में 'शमोदमः०' आदि और क्षत्रिय के लक्षणों में—'शौर्यं तेजो०'आदि श्लोकों के प्रयोग पर श्री पं० जी ने अपनी पुस्तक (ऋषि दयानन्द और गीता) के पृष्ठ १५ पर लिखा है 'गीता की इन (वेद पठन,यज्ञ-याग और दान) तीनों कर्मों के प्रति उपेक्षा स्पष्ट है, जिसकी पूर्ति के लिए ऋषि ने मनु के उपर्युक्त श्लोक देना आवश्यक समझा। इससे ऋषि की दृष्टि में गीता का कोई मान न होकर उसकी हेयता और वर्ण धर्म की त्रुटिपूर्ण व्याख्या ही प्रकट होती है।'

श्री पं० जी की यह कल्पना सर्वथा उलटी है। श्री पं०जी के लेख का भाव ऐसा निकलता है—मानो ऋषि किसी कारण किसी के आग्रह आदि से (अनिच्छा पूर्वक) गीता के इन श्लोकों का अर्थ लिख रहे थे। उन श्लोकों में वर्ण धर्म की त्रुटि पूर्ण व्याख्या थी इसलिये मनु के श्लोकों को लिख कर वर्ण धर्म की पूरी व्याख्या कर दी।

सत्यार्थ प्रकाश में सर्वथा इसके विपरीत बात है। ऋषि ने चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण लिखे—प्रथम ब्राह्मण

के गुण कर्म स्वभाव बताने के लिये पहले मनुस्मृति का श्लोक दिया (यह नहीं कि—पहले गीता का श्लोक दिया और उस में त्रुटि देख कर मनु का श्लोक दिया हो) और ब्राह्मण वर्ण के पूरे गुण कर्म स्वभाव बताने के लिये गीता का श्लोक देने की आवश्यकता समझी तब गीता का श्लोक दिया और दोनों का अर्थ करते हुए लिखा—'ब्राह्मण के पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ यज्ञ करना कराना, दान देना लेना ये छः कर्म हैं।' आगे शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य-गीता में बताये इन ९ को मिला कर ऋषि ने लिखा—'ये पन्द्रह कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिये।'

इसी प्रकार क्षत्रिय के गुण कर्म बताते हुये पहिले मनुस्मृति का श्लोक दिया परन्तु पूरे गुण कर्मादि क्षत्रिय के बताने के लिये गीता का श्लोक लिखना अत्यावश्यक समझा और लिखा।

महाराज ने इन दोनों (मनुस्मृति और गीता के श्लोकों) का अर्थ करते हुये लिखा कि—'न्याय से प्रजा की रक्षा, इज्या, अग्नि होत्रादि यज्ञ का करना वा कराना, अध्ययन, विषयों में न फँसना, शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में न हटना तथा आवश्यकता पड़ने पर भागना भी, दान और ईश्वर भाव इनके अर्थ और व्याख्या करके ऋषि ने लिखा—ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं।

सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि के लेख से स्पष्ट है कि—गीता का श्लोक बिना लिखे ब्राह्मण वर्ण के पन्द्रह गुण कर्म नहीं बनते हैं और ऋषि लिखते हैं कि—'ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में इन पन्द्रह गुण कर्मों का होना आवश्यक है।'

क्षत्रिय के गुण कर्मों में गीता का श्लोक न रखा जाय

तो क्षत्रिय के गुण कर्म ग्यारह नहीं बनते, इससे यहाँ तो सर्व प्रकार यह सिद्ध है कि—गीता को ऋषि ने हेय नहीं माना, किन्तु परमावश्यक और परम उपादेय माना है। यहाँ तो गीता की महत्ता और माननीयता सिद्ध हो रही है। इसलिये श्री पं० राजेन्द्र जी की इन श्लोकोंके विषयमें कल्पना सर्वथा उलटी है।

एक और अनोखी कल्पना—

'ऋषि दयानन्द और गीता' के पृष्ट १५ पर लिखा है—

'मनु के दोनों श्लोकों में वेद पठन-पाठन, यज्ञयाग और दान तीनों का ब्राह्मण और क्षत्रियों के कर्मों में विशेष स्थान है किन्तु गीता में इनका उल्लेख तक नहीं। क्षत्रिय को दान देने का तो वर्णन है किन्तु वेदाध्ययन और यज्ञ से वंचित कर दिया है। इससे गीता की इन तीनों कर्मों के प्रति उपेक्षा स्पष्ट है, जिसकी पूर्ति के लिये ऋषि ने उपर्युक्त श्लोक का देना आवश्यक समझा।"

यह सारा सन्दर्भ ऋषि दयानन्द जी के किए अर्थों के भी विरुद्ध है और श्लोकों के शब्दों के विरुद्ध भी।

'शमोदमस्तपः०' श्लोक के अर्थ में ऋषि ने यह लिखा है:-

(ज्ञान) सब वेदादि शास्त्रों को साँगोपाङ्ग पढ़ कर पढ़ाने का सामर्थ्य, विवेक, सत्य का निर्णय—जो वस्तु जैसी हो अर्थात् जड़ को जड़, चेतन को चेतन मानना और जानना।

(विज्ञान) पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को विशेषतासे जान कर उनसे यथा योग्य उपयोग लेना(आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व पर जन्म, धर्म, विद्या, माता पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना और निन्दा कभी न करना आदि।

ऋषि ने इस श्लोक में वेदाध्ययन का विधान माना है

पर पं० जी को इसमें उसका उल्लेख तक दिखाई नहीं देता है। इसको दृष्टि दोष कहा जाए या और कुछ।

क्षत्रिय के लक्षण बताते हुए--

'शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं०' आदि गीता के श्लोकमें से दाक्ष्य का अर्थ—(दाक्ष्य) राजा और प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना लिखा है।

क्षत्रिय को वेदाध्ययन से वञ्चित कैसे कर दिया ?

स्पष्ट है कि यहाँ ऋषि द्वारा गीता के श्लोकों के अर्थ की श्री पं० जी ने सर्वथा उपेक्षा की है। इस विवेचन से यह भी प्रकट है कि ऋषि दयानन्द का निश्चय से गीता के प्रति आदर पूर्ण दृष्टिकोण था।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि स्वामीजी ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थों की जो सूचियाँ कानपुर और बम्बई में प्रसारित विज्ञापनों में दी हैं उनमें गीता का उल्लेख नहीं है। परन्तु महाभारत का तो है। जब गीता महाभारत का ही एक अंश है तो उसका स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? महाभारत में शतशः प्रकरण ऐसे हैं जो वेदानुकूल होने से स्वामी जी को मान्य हैं। गीता का वेदानुकूल अंश भी उन प्रकरणों में ही आता है जिसके प्रभूत उद्धरण स्वामीजी अपने ग्रन्थों में देते हैं।

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास के अन्तर्गत पठन-पाठन विधि का जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ भी मान्य और पाठ्यक्रम में रक्खे जाने वाले ग्रन्थों में महाभारत का उल्लेख हुआ है तो उससे गीता का प्रामाण्य स्वतः ही स्वीकृत हो जाता है। यदि गीता का प्रामाण्य और उसे पाठ्य ग्रन्थों में स्थान देना स्वामीजी को अभीष्ट नहीं होता तो वे उसका उल्लेख भी अनार्ष

और त्याज्य ग्रन्थों की सूची में कर सकते थे जैसा कि उन्होंने पुराणों, तंत्रों, तुलसीदास कृत भाषा रामायण और रुक्मिणी मङ्गलादि अन्य भाषा ग्रन्थों का किया। ऐसा करने में उन्हें क्या कठिनाई थी ? परन्तु यह निश्चित है कि स्वामी दयानन्द गीता को पुराण और तन्त्र की कोटि का ग्रन्थ नहीं समझते थे। गीता के महत्व को न्यून सिद्ध करने की धुनमें श्रीपं० राजेन्द्रजी महाभारत के प्रामाण्य पर भी आघात कर बैठे हैं। इतिहास वर्णन के व्याज से महाभारतकार महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने जो धर्म निरूपण किया है, वह अद्वितीय है। अतः पं० राजेन्द्रजी का यह कथन पक्षपात का ही सूचक है कि 'महाभारत में इतना प्रक्षेप हुआ है कि उसका महत्व पुराणों से अधिक नहीं रह गया।'[1] महाभारत में प्रक्षेपों की विद्यमानता सभी स्वीकार करते हैं। स्वामी दयानन्द भी महाभारत में हुए प्रक्षेपों से अनभिज्ञ नहीं हैं, परन्तु उन्होंने कहीं भी महाभारत को पुराणों के तुल्य नहीं बताया। जिस दिन हम महाभारत को पुराणों के तुल्य मान कर उसके महत्व को अस्वीकार कर देंगे उस दिन हम आर्ष इतिहास को अस्वीकार करते हुए अपने पूर्वजों की अमूल्य थाती से हाथ धो बैठेंगे। परमात्मा वह दिन न लावे जब कि पूर्वाग्रह के वशीभूत होकर आर्यजन महाभारत जैसी दिव्य, महनीय और आर्ष कृति की अवमानना करने लगें।

—०:※०:—

१ ऋषि दयानन्द और गीता पृ० २२

६—आर्यसमाज और गीता

ऋषि दयानन्द के पश्चात् आर्य सामाजिक क्षेत्र में अन्य आर्य विद्वानों को भी गीता की प्रसाद पूर्ण शैली, उसमें व्यक्त किये गये सिद्धान्तों की ओजस्विता तथा महत्ता ने आकृष्ट किया है। स्वामी दयानन्द के साक्षात् शिष्य पं० भीमसेन शर्मा से लगाकर आज दिन तक के आर्य विद्वानों ने गीता की जो विभिन्न टीकायें, व्याख्यायें तथा भाष्य आदि प्रकाशित किये हैं, उनका पृथक् विवरण हम अन्यत्र दे रहे हैं। पं० राजाराम महामहोपाध्याय, पं० आर्यमुनि, शास्त्र निष्णात पं० तुलसीराम स्वामी, पं० भीमसेन शर्मा, दार्शनिक मूर्धन्य स्वामी आत्मानन्द सरस्वती आदि आर्य विद्वानों ने अपनी अपनी दृष्टि से गीता की व्याख्यायें लिखी हैं। पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा पं० कृष्णस्वरूप विद्यालङ्कार ने तो गीता की वृहद् टीकायें लिखकर पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। आर्यसमाज की वेदी से गीता की कथायें, व्याख्यान आदि होते रहते हैं तथा समाज के मूर्धन्य उपदेशक और विद्वान् गीता के स्फूर्ति युक्त उपदेशों को अपने भाषणों का विषय बनाते हैं। गीता के उद्धरण भी प्रभूत मात्रा में आर्य विद्वानों और लेखकों द्वारा दिये जाते हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आर्य समाज में गीता को वेद के तुल्य स्थान दिये जाने की कोई सम्भावना है। भले ही भारत का पौराणिक मतावलम्बी हिन्दू गीता को विष्णु के साक्षात् अवतार श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत बतला कर

वेद से भी अधिक महत्व दे, परन्तु आर्यसमाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न होने का कोई आधार नहीं है। अतः हम इस आशङ्का को व्यर्थ समझते हैं कि आर्यसमाज में यदि गीता की चर्चा और उसका विवेचन होता है तो उससे वेद के च्युत होने की सम्भावना है। वेद यद्यपि आर्यों के परमादरणीय, परम प्रामाणिक, ईश्वरोक्त धर्म ग्रन्थ हैं परन्तु वेदातिरिक्त अन्यान्य ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति, दर्शन, धर्मशास्त्र और काव्य तथा इतिहास के ग्रन्थ जैसे हमारी मीमांसा, आलोचना तथा अध्ययन के विषय बनते हैं उसी प्रकार गीता का विवेचन भी अपना महत्व रखता है। आर्यसमाज में गीता की यही स्थिति है और और होनी चाहिये। वेदों से अधिक जब उपनिषद् और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ ही नहीं हैं, तो गीता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तिस पर भी गीता के नाम पर यदि कोई आर्यसमाज में पाखण्ड फैलाने का दुस्साहस करता है या वेद और उपनिषद् की कथाओं की तुलना में गीता की कथा को प्राथमिकता देता है तो ऐसे प्रच्छन्न वेद-द्रोहियों से हमें सजग रहना चाहिए।

१०. गीता में प्रक्षेप और अवैदिक मान्यतायें

गीता के वर्तमान रूप को पूर्णतया वेदानुकूल नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि गीता जैसे लोकप्रिय और प्रख्यात ग्रन्थ को भी आलोचना के तीव्र प्रहारों का सामना करना पड़ा है। गीता में समय समय पर प्रक्षेप हुये हैं यह मानने में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। प्रक्षेपों की चर्चा इतनी प्रबल हुई कि कई विद्वानों की राय में तो सम्पूर्ण गीता ही महाभारत में वैष्णव मतानुयायियों द्वारा प्रक्षिप्त मान ली गई है। हम इस प्रसङ्ग की चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हम देखेंगे कि गीता में वेद विरुद्ध अंश कौनसा है और क्यों हम उसे प्रक्षिप्त फलतः अमान्य मानते हुए इस 'शुद्ध गीता' में से पृथक् कर देने के लिए वाध्य हुए हैं।

(१) गीता में सर्वाधिक प्रक्षेप अवतारवाद की मान्यता को सिद्ध करने की दृष्टि से किये गये। अवतारवाद का मूल चतुर्थ अध्याय में स्थापित किया गया है।प्रारम्भ के १५ श्लोक उसी दृष्टि से रक्खे गये हैं कि उससे अवतारवाद का सिद्धान्त पुष्ट हो सके। प्रथम श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि इस योग को पहले मैंने विवस्वान को बताया था। विवस्वान ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को बताया|इस पर अर्जुन को आश्चर्य होता है। वह पूछता है—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४।४

आपका जन्म तो अब हुआ और विवस्वान तो बहुत

पहले हो चुके है। इसलिये मैं कैसे जान लूँ कि इस योग का कल्पारम्भ में आपने ही उपदेश दिया था। इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥ ४।५

मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, परन्तु मैं जानता हूँ। यहाँ तक तो कोई विशेष आपत्ति जनक बात नहीं थी, क्योंकि जीवात्मा एकाधिक जन्म ग्रहण करते हैं। परन्तु आगे कृष्ण अपने को अजन्मा, अव्यय और भूतों का स्वामी मानते हुए योग माया से अपने जन्म लेने की बात कहते हैं। यहीं से अवतारवाद का बीज वपन होता है और आगे के दो श्लोकों में अवतारवाद के प्रयोजन-भूत कारण बताये गये हैं :—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ४।७,८

यहाँ कृष्ण के दिव्य जन्म और कर्म का उल्लेख है जिसे तत्वतः जानकर मनुष्य पुनर्जन्म से छुटकारा पा लेता है।

अवतार की यह विचारधारा गीता में अनेक स्थानों पर अत्यन्त प्रबलता से स्थापित की गई है। इसी आधार पर कृष्ण अपने ऊपर परमात्मा का आरोप करते हैं, फलतः शतशः श्लोक ऐसे हैं जिनमें कृष्ण का यह अहंवाद (Egoism) अत्यन्त प्रबल हो उठा है। हम इन सभी श्लोकों को प्रक्षिप्त मानने के लिए बाध्य हुए हैं। ऐसे कतिपय श्लोक उदाहरण के लिये यहाँ लिखे जा रहे हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।३।६१
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा । २।३०
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। ४।११
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।५।२९
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं च प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ६।३०
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। ७।७
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्ता कलेवरम् । ८।५
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । ९।२२
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । १०।८
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। ११।५३
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते । १२।२
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । १३।२
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।१४।३
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । १५।६
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। १६।२०
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूत ग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुर निश्चयान् ।।१७।६
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । १८।६५

स्थाली पुलाक न्याय से ऊपर गीता के प्रथम अध्याय को छोड़ कर शेष सत्रह अध्यायों के श्लोक या श्लोकांश लिखे

गये हैं जिनमें श्रीकृष्ण अपने आपको ईश्वर मानते हुये 'अहं' 'मां', 'मयि', 'मत', 'मम', 'मे' का प्रयोग कर अपने को सर्वोपरि परमात्मा बताते हैं। ये तथा ऐसे सभी श्लोक हमारी दृष्टि में प्रक्षिप्त हैं। इसका एक कारण और भी है। जहाँ तक एक ओर प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हुये कृष्ण अपने को परमात्मा बताते हैं वहाँ कहीं कहीं उसके लिये अन्य पुरुष का प्रयोग करते हुये अपने से पृथक् परमात्मा की सत्ता को भी स्वीकार किया है। इस वदतोव्याघात दोष से गीता को बचाने का सर्वोतम उपाय यही है कि गीता से ऐसे अंशों को पृथक् कर दिया जाय जहाँ कृष्ण अपने को ईश्वर कहते हैं। कारण यह है कि दोनों प्रकार के वर्णन साथ साथ नहीं चल सकते। इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्य होगा। अठारहवें अध्याय में ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा उसके सर्वान्तर्यामित्व का उल्लेख करते हुए कृष्ण कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसिशाश्वतम् ।। १८।६१,६२

यहाँ ईश्वर को सब प्राणियों के हृदय में विराजमान बताते हुए उसी की शरण में जाने के लिये कहा गया है। परन्तु इसके ३ श्लोक बाद ही पता नहीं कृष्ण को क्या सूझी कि अपनी शरण में आने को कह बैठे। शरणागति योग के नाम से उनका यह श्लोक प्रसिद्ध है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षमिष्यामि मा शुचः ।। १८।६५

'सब धर्मों को छोड़कर मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे

सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'यहाँ पाठक के मन में सहज शङ्का होती है कि कृष्ण उसकी शरण में जाने को कहते कहते अपनी शरण में आनेके लिये कैसे कह बैठे?स्पष्ट ही दोनों श्लोकों में से एक ही प्रामाणिक माना जाएगा, दूसरे को प्रक्षिप्त ही मानना होगा।

इसी तर्क सरणि का अनुसरण करते हुए हमने वे सब श्लोक हटा दिये हैं जो कृष्ण को ईश्वर घोषित करते हैं। यहाँ सूचना के लिये यह भी लिख दिया जाय तो अनुचित न होगा कि सम्पूर्ण गीता को वैदिक और प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् ऐसे 'अहंभावपरक' श्लोकों की भी अपने मनोनुकूल व्याख्या कर ही लेते हैं। ऐसे विद्वानों के मतानुसार ऐसे सब श्लोक ईश्वर के द्वारा ही कहे समझे जाने चाहिये जो कृष्ण के मुख से कहलाये गये हैं। जैसे उद्धरण चिन्हों (Inverted Comma) का प्रयोग कर हम किसी अन्य व्यक्ति के कथन को ज्यों का त्यों उद्धृत कर देते हैं उसी प्रकार कृष्ण ने भी अपने मुख से परमात्मा के मत को उद्धृत किया है। एक अन्य युक्ति के अनुसार जिस समय कृष्ण ने यह उपदेश दिया उस समय वे सामान्य स्थिति से ऊपर उठकर योगावेश में स्थित थे। उसी अवस्था में उन्होंने गीता का उपदेश दिया। उसके प्रमाण में वे महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के १६ वें अध्याय में लिखी अनुगीता की भूमिका के प्रकरण को उद्धृत करते हैं, जिसके अनुसार कृष्ण के द्वारिका गमन से पूर्व अर्जुन ने उनसे एक बार पुनः गीता का उपदेश कथन करने का आग्रह किया। इस पर कृष्ण अपनी कठिनाई बताते हुए कहते हैं—

न च शक्यं पुनर्वक्तु मशेषेण धनञ्जय। १६।११
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः। १६।१२

परंहि ब्रह्म कथितं योग युक्तेन तन्मया । १६।१३

अर्थात् उस प्रसङ्ग को दुबारा कहने की स्थिति में मैं नहीं हूँ । उस समय योग युक्त होकर मैंने परमात्म तत्व का वर्णन किया था । पर युद्ध भूमि पर यह योगारूढ़ अवस्था और शान्ति के क्षणों में उसकी अशक्यता को क्यों कर युक्ति संगत माना जा सकता है ? यदि इस घटना को सत्य मान भी लिया तो भी इतना ही माना जा सकता है कि उपदेश देते समय कृष्ण सामान्य मनःस्थिति से यत्किंचित ऊपर उठे हुए होंगे । (जैसा कि सामान्यतया प्रत्येक उपदेष्टा ही अनुभव करता है ।) अस्तु कुछ भी क्यों न हो गीता के इस अन्तर्विरोध को दूर करने का यही उपाय है कि इस प्रकार के श्लोकों को इस शुद्ध संस्करण में स्थान न दिया जाय ।

द्वितीय प्रकार के श्लोक जो इस संस्करण में नहीं रक्खे गये हैं वे पौराणिकता के भावों को लिये हुये होने के कारण प्रक्षिप्त समझे गये हैं । गीता का एकादश अध्याय जिसमें विश्वरूप दर्शन का वर्णन है पौराणिक भावों से परिपूर्ण है । इसमें अतिशयोक्ति तथा कल्पना प्राचुर्य तो हैही, पौराणिक शब्दावलियाँ तथा पौराणिक प्रसंग गर्भत्व की विद्यमानता के कारण भी हमें इसे छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा है । इसमें जो विराट रूप अर्जुन को दिखाया गया वह विष्णु के चतुर्भुज स्वरूप का ही एक विस्तृत कल्पना प्रवण वर्णन है । इसमें 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च' (११।१७) कह कर विष्णु के शंख, चक्र, गदा, पद्म इन आयुधों का उल्लेख हुआ है । 'ब्रह्माणमीश कमलासनस्थं' के रूप में कमलासन पर स्थित ब्रह्मा और शिव के उल्लेख के रूप में प्रसिद्ध पौराणिक देवत्रयी का वर्णन हुआ है । इसके अतिरिक्त भी पुराणों में वर्णित देवता, भूत,

गन्धर्व, यक्ष, असुर, पितर, मरुत, साध्य, रुद्र, वसु, आदित्य, आदि देव योनियों और प्रेत योनियों का वर्णन (११।१५,२२) पौराणिक भावों से परिपूर्ण हैं। कृष्ण के वासुदेव नाम को परमात्मा के रूप में गीता में स्वीकार किया गया है। ऐसे महात्मा पुरुष को दुर्लभ बताया गया है जो सर्वत्र 'वासुदेव' को देखता है। 'वासुदेव' वैष्णव सम्प्रदाय के पूज्य और आराध्य कृष्ण का ही अपत्य वाचक नाम है। वैदिक वाङ्मय में इस नाम का परमात्मा के पर्याय के रूप में कहीं उल्लेख नहीं हुआ। अन्य प्रक्षिप्त अंश वे माने जा सकते हैं जिनमें मूर्ति-पूजा के संकेत हैं। इसका एक ही उदाहरण "पत्रं पुष्प फलं तोयं" यह श्लोक है जिसमें कृष्ण के लिये एक पत्ता, पुष्प, फल या जल अर्पित करने वालों की प्रशंसा की गई है। दसवें अध्याय में वर्णित विभूतियोग भी प्रक्षिप्त है क्योंकि इसमें वर्णित अनेक प्रसंग पौराणिक हैं। मूल व्याख्या में हमने प्रक्षिप्त श्लोकों का प्रसंगोपात्त विवेचन किया है अतः यहाँ संकेत मात्र समीक्षण ही पर्याप्त है।

—:❀:—

११—गीता के विभिन्न भाष्य

शताब्दियों से गीता हिन्दूधर्म का प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ रहा है। जैसा कि हम देख चुके हैं वेदान्त के आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' के भीतर उसे स्थान दिया है। उपनिषदों को प्रतिप्रस्थान, गीता को स्मृति प्रस्थान तथा बादरायण कृत ब्रह्म सूत्रों को तर्कप्रस्थान की संज्ञा दी गई है। लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के अनुसार गीता पर भाष्य ग्रन्थों की रचना हुई। वेदान्त में अद्वैत मत के प्रवर्त्तक शङ्कराचार्य की टीका इस समय विद्यमान टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन है। इससे पुरानी टीकायें भी शायद थीं, जिनका संकेत शङ्कराचार्य ने अपनी भूमिका में दिया है, परन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं होतीं। शङ्कराचार्य ने गीता का अर्थ मायावादी अद्वैत वेदान्त की विचार धारा को प्रधानता देते हुए किया है। वे गीता को ज्ञान प्रधान मानते हैं। कर्म को उन्होंने सीमित महत्व दिया है।[1] यह निर्विवाद है कि जब किसी विशिष्ट दार्शनिक मतवाद को हृदय में स्थान देकर किसी ग्रन्थ की व्याख्या की जाती है तो उस ग्रन्थ की मूल विचारधारा के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। शांकर भाष्य का भी यही परिणाम हुआ। शङ्कर ने मायावाद, विवर्तवाद, एक ब्रह्मवाद, जगत् मिथ्यावाद आदि के स्वकल्पित सिद्धान्तों को गीता पर थोपने की चेष्टा की है।

---

१ तस्माद् गीतासु केवलादेव तत्वज्ञानान्मोक्ष प्राप्तिः, न कर्म-समुच्चितात। शांकर भाष्य २।११

शङ्कराचार्य के मत का अनुसरण करते हुये ही श्रीधर (१४०० ई०) तथा मधुसूदन सरस्वती ने अपनी २ टीकायें लिखीं ।

विशिष्टाद्वैत मत प्रवर्तक आचार्य रामानुज ने भी गीता पर अपना भाष्य लिखा है । रामानुज ने वैष्णवमत के आद्याचार्य यामुनाचार्य रचित 'गीतार्थ संग्रह' में प्रतिपादित व्याख्या का अनुसरण किया है । यद्यपि रामानुज ने अपनी गीता की व्याख्या में विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को पुष्ट किया है तथापि यह टीका गीता के मौलिक मन्तव्य के अधिक समीप है तथा इसमें खींचातानी करने का बहुत कम प्रयास किया गया है । रामानुज वैष्णवमत के श्री सम्प्रदाय के आचार्य थे अतः उन्होंने अपने गीता भाष्य में विष्णुपुराण आदि वैष्णवपुराणों की सहायता ली है ।

द्वैतमत के आचार्य मध्व (११९९—१२७६ ई०) ने गीता पर दो ग्रन्थ लिखे—गीता भाष्य और गीता तात्पर्य । गीता में उन्हें जीव और ईश्वर का भेद अभिप्रेत है । निम्बार्क के द्वैताद्वैत मत के अनुयायी केशव काश्मीरी ने गीता 'पर'तत्व प्रकाशिका' नामक टीका लिखी । वल्लभाचार्य ने गीता के आधार पर अपने शुद्धाद्वैत मत को पुष्ट किया । महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर ने मराठी भाषा में 'ज्ञानेश्वरी' नामक टीका लिखी है ।

वर्त्तमान समय में भी गीता पर अनेक व्याख्यायें लिखी गईं । लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने माँडले जेल के अपने कारावास काल में गीता पर 'कर्मयोग रहस्य' नामक वृहद् व्याख्या ग्रन्थ का निर्माण किया । तिलक के अनुसार गीता में

कर्म-योग का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ की विद्वतापूर्ण भूमिका में तिलक महाराज ने गीता के दर्शन, आचारशास्त्र तथा तद्विषयक अन्यान्य समस्याओं पर भी बिचार किया है। गीता की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा तिलक महाराज की इतिहास बिषयक तलस्पर्शी विद्वत्ता की द्योतक है। महात्मा गाँधी ने गीता पर अनासक्ति योग नामक संक्षिप्त गुजराती टीका लिखी। गान्धीजी के मतानुसार गीता एक रूपक प्रधान आलङ्कारिक ग्रन्थ है, जिसमें कौरवों और पाण्डवो के युद्ध के व्याज से मानवी मन में पाई जाने वाली आसुरी और दैवी वृत्तियों के आध्यात्मिक संघर्ष का चित्रण है। गांधी जी गीता के वक्ता और श्रोता कृष्ण और अर्जुन को भी आलंकारिक (काल्पनिक) ही मानते हैं। योगी अरविंद ने गीता की भूमिका तथा गीता पर निबंध (Essays on Geeta) लिखे हैं। गांधीजी के सैद्धान्तिक अनुयायी आचार्य विनोवा भावे ने भी अपने करावास काल में गीता पर प्रवचन किये जो बाद में 'गीता प्रवचन' के नाम से संग्रहीत और प्रकाशित हुए। 'स्थितप्रज्ञ दर्शन' और 'गीताई कोष' उनके गीता विषयक अन्य ग्रन्थ हैं। दार्शनिक मूर्धन्य डा० राधाकृष्णन् ने भी गीता पर अपनी अँग्रेजी टीका लिखी है, और भूतपूर्व गवर्नर जनरल और राजनीतिज्ञ शिरोमणि चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने भी गीता का एक संक्षिप्त रूपान्तर (विषयानुसार श्लोकों का नवीन क्रम निर्माण) अँग्रेजी में किया था जो हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस से छपा।

वियोसोफिकल सोसाइटी की नेत्री श्रीमती ऐनी बेसेन्ट तथा सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० भगवानदास ने गीता का एक अंग्रेजी पद्यानुवाद गुटके के रूप में निकाला जो देश और

विदेश में सर्वत्र लोकप्रिय हुआ। अंग्रेजी में लिखी गई गीता की अन्य टीकाओं में स्वामी प्रणवानन्द और क्रिस्टोफर ईशर्वुड द्वारा लिखित गीता का अनुवाद प्रमुख है। इनके अतिरिक्त हिन्दी तथा संसार की विभिन्न भाषाओं में गीता के शतशः भाष्य, अनुवाद, टीकायें, व्याख्यायें आदि लिखी गई हैं। भारत में तो गीता प्रेस गोरखपुर अकेला ही एक ऐसा संस्थान है जहाँ से गीता के पचीसों छोटे बड़े संस्करण लाखों की संख्या में छप कर प्रकाशित हो चुके हैं। वस्तुतः गीता की उतनी अधिक टीकायें और व्याख्यायें उसकी लोक प्रियता की द्योतक तो हैं ही, साथ ही यह भी सिद्ध करती हैं कि वर्त्तमान गीता में पर्याप्त प्रक्षिप्तांश है और कि (वर्त्तमान) गीता किसी एक निश्चित सैद्धान्तिक मान्यता का प्रति पादन नहीं करती जिसके कारण सभी मतवादी अपने अपने मत की पुष्टि गीता में देखते हैं और सत्य से दूर बने रहते हैं।

१३ आर्यसमाजी विद्वानों के गीता भाष्य।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य पं० भीमसेन शर्मा ने सर्वप्रथम संस्कृत तथा हिन्दी में गीता पर भाष्य लिखा। इसमें शर्मा जी ने आर्यसमाज के दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुये प्रक्षिप्त समझे जाने वाले अध्यायों और श्लोकों की युक्तिपूर्ण समालोचना की है। आर्यसमाज के एक पुराने विद्वान पं० भू मित्र शर्मा ने भी गीता का एक भाष्य लिखा था।

आर्यसमाज के पुराने खेवे के विद्वान् महामहोपाध्याय पं० आर्य मुनि ने "गीता योग प्रदीपार्य भाष्य" लिखा। इसमें उन्होंने केवल एक श्लोक 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' को प्रक्षिप्त माना है। शेष समस्त ग्रन्थ की संगति उन्होंने वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल ही लगाई है। इसी प्रकार पं० तुलसीराम स्वामी की गीता टीका भी अपनी दृष्टि से अपूर्व है। उसमें यद्यपि प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् नहीं किया गया है, तथापि उनकी अर्थ संगति आर्य सिद्धान्तों के अनुकूल इस प्रकार लगाई गई है कि उसमें पौराणिक मत विश्वासों की गंध भी नहीं आती। (हमारे विचार में ऐसा अर्थों की खींचातानी द्वारा ही सम्भव है।) स्वामी दर्शनानन्द जी के नाम पर जो टीका प्रचलित है वस्तुतः वह उनकी लिखी हुई नहीं है। गीता में प्रक्षेपों पर विचार करने और प्रक्षिप्त भाग को युक्ति और तर्क के आधार पर पृथक् कर उसे विशुद्ध वैदिक रूप देने का प्रयास आर्यसमाज के स्वर्गीय विद्वान् संन्यासी स्वामी आत्मानन्द जी ने किया। इन्होंने "वैदिक गीता" लिखी। इसमें स्वामी जी ने प्रक्षेप चुनने की एक मौलिक पद्धति का विश्लेषण अपनी भूमिका में किया और उसी नियम के अनुसार उन्होंने गीता के वास्तविक श्लोकों का पता लगाया। स्वामी जीं का यह आग्रह नहीं है कि जिन श्लोकों को उन्होंने प्रक्षिप्त माना है और जिन शेष श्लोकों को

मौलिक माना है वे यथार्थ में ही प्रक्षिप्त या मौलिक हैं। यह हो सकता है कि पाठक की सम्मति में गीता का अमुक श्लोक मौलिक हो जिसे स्वामी जी ने प्रक्षिप्त माना हो, परन्तु स्वामी जी की विवेचन शैली और नीर-क्षीर विवेकिनी प्रतिभा की प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी।

आर्यसमाज के एक अन्य संन्यासी स्वामी मंगलानन्द पुरी ने प्राचीन भगवद्गीता या सत्तरश्लोकी गीता का प्रकाशन किया। इन सत्तर श्लोकों का चयन उन्होंने बाली द्वीप से प्राप्त सत्तर श्लोकी गीता, के आधार पर किया जो वहाँ की कवि भाषा में लिखी मिलती है। इस ग्रन्थ का उद्धार डा० नरहर गोपाल सर-देसाई नामक सज्जन ने किया था तथा उन्होंने ही Modern Review के जुलाई १९१४ के अङ्क में The Bhagvad Gita from the Island of Bali के नाम से एक लेख लिखकर इसका परिचय देशवासियों को दिया। आर्यसमाज के एक अन्य विद्वान् पं० जैमिनी मेहता ने भी अपनी पुस्तक 'जावामें पाषाण चित्रलिपि रामायण' में इस सत्तर श्लोकी गीता का उल्लेख किया है। इस गीता का विभाजन अध्यायों के क्रम से नहीं हुआ है। इन ७० श्लोकों में ५७ श्लोक तो पूरे हैं शेष श्लोकार्द्ध एक दूसरे से मिलाये गये हैं। पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की पुरुषार्थ बोधिनी टीका तथा पं० कृष्णस्वरूप विद्यालंकार की 'गीतामर्म' एवं 'गीता विज्ञान विवेचन' विस्तृत, विशद गीता-भाष्य हैं, जिनमें लेखकों का पर्याप्त अध्यवसाय और बुद्धि का चमत्कार देखने को मिलता है। इन प्रमुख भाष्य और टीका लेखकों के अतिरिक्त पं० राजाराम, स्वामी सत्यानन्द, रघुनन्दन सिंह निर्मल, आत्माराम अमृतसरी, दीवान चंद, योगानन्द सरस्वती आदि आर्य विद्वानों ने भी गीता पर अपनी अपनी स्वतंत्र टीकायें लिखी हैं। ❀ ❀

गीता के चुने हुये श्लोकों के संग्रह भी आर्य समाजी विद्वानों द्वारा प्रकाशित हुये हैं। इनमें ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालङ्कार की आर्य कुमार गीता, जगदीशचन्द्र विद्यार्थी का गीता उपदेश, आदि प्रमुख हैं। जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है आर्य-समाजी विद्वानों में एक वर्ग ऐसे लोगों का है जो सम्पूर्ण गीता को प्रक्षिप्त मानते हैं, उसे आर्यसमाज में प्रतिष्ठित किये जाने के विरुद्ध हैं। श्री पं० राजेन्द्र जी कृत गीता विमर्श, गीता की पृष्ठभूमि, ऋषि दयानन्द और गीता—ये तीनों ग्रन्थ इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। हमने पं० राजेन्द्र जी के मत की समीक्षा यत्र-तत्र अपने इस विवेचन में की है। पं० राजेन्द्र जी के ही अनुयायी हैं श्री चक्खनलाल जी वेदार्थी, जिनकी पुस्तक 'गीता समीक्षा' उसी तर्क-सरणि का अनुगमन करती हैं, जिस पर पं० राजेन्द्र जी चले हैं। डा० श्रीराम आर्य लिखित 'गीता-विवेचन' में लेखक का पूर्वाग्रह और पूर्वाग्रह जन्म दोष अधिक मुखर और स्पष्ट हैं। गीता का समर्थन करने वाले विद्वानों में हैं शास्त्रार्थ महारथी ठाकुर अमरसिंह जी आर्य पथिक। आपका एक लघु ग्रन्थ 'गीता में ईश्वर का स्वरूप' प्रकाशित हुआ है। आर्य समाजों के पत्रों में भी यदा कदा गीता के पक्ष और विपक्ष में लेखों का प्रकाशन होता रहता है। कुछ वर्ष पूर्व मध्यभारत आर्य प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र 'आर्यावर्त' ने गीता पर एक विशेषाङ्क प्रकाशित किया था, जिसके सम्पादक पं० कृष्ण स्वरूप विद्यालङ्कार थे। प्रस्तुत ग्रन्थ गीता विषयक् अध्ययन को एक नवीन, वैज्ञानिक, तर्कयुक्त और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास मात्र है। हमने यत्न किया है कि किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त यह ग्रन्थ जहाँ गीता के शुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत करने की दिशा में सहायक सिद्ध हो सके वहाँ आर्य विद्वानों के विचार भेद के बीच एक सेतु का काम दे सके।

१३ गीता की लोक प्रियता और उसकी समन्वयमूलकता—

वस्तुतः गीता की लोक प्रियता, उसके सार्वभौम प्रचार तथा उसकी जनमनरञ्जनकारी शिक्षा की व्यापकता का एकमात्र कारण उसकी समन्वयमूलक शिक्षा है। आजकल 'समन्वय' शब्द का बहुधा दुरुपयोग ही होता है और विचारों में परस्पर विसंवादी स्वरों को येन केन प्रकारेण मिलाने की जो चेष्टा की जाती है, उसे ही 'समन्वय' कहा जाता है। हम इस प्रकार के समन्वय के समर्थक नहीं। यदि गीता में विभिन्न दर्शन, विभिन्न मत विश्वास, विभिन्न प्रकार के नैतिक स्वर तथा विभिन्न आचार विचार की प्रणालियों का प्रतिपादन हो तो उसे निश्चय ही तर्क पूर्ण और युक्ति सिद्ध ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। हमने अपने विवेचन में यह स्पष्ट कर दिया है कि 'गीता के समन्वय-वाद' का यह अर्थ लेना हमें अभीष्ट नहीं। यदि गीता एक ओर अद्वैतवाद का प्रतिपादन करे और दूसरी ओर ईश्वर और जीव का भेद भी उसी से सिद्ध किया जाय तो ऐसे ग्रन्थ को चूँ चूँ का मुरब्बा कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। वर्त्तमान गीता का यह समन्वय हमें ग्राह्य नहीं।

हम उस समन्वय की बात करते हैं जो वैदिक धर्म की जीवन प्रणाली का आधार है और जिसमें जीवन के प्रति एकाङ्गी दृष्टि को स्थान न देकर जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों के सर्वाङ्गीण विकास पर जोर दिया जाता है। यह समन्वय

हमें गीता में भी उपलब्ध होता है। गीता न तो केवल ज्ञान को और न केवल कर्म को महत्व देती है। उसकी दृष्टि में ज्ञान और कर्म का समान महत्व अपेक्षित है।'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' की घोषणा करते हुये भी गीता कर्म की सर्वोपरि महत्ता को स्वीकार करती है। उसकी दृष्टि में 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्म में कुशलता दिखाना ही वास्तविक योग है। ज्ञान और कर्म का यह समन्वय ईशोपनिषद् की उस शिक्षा के अनुकुल ही है जिसमें विद्या और अविद्या को साथ-साथ जानने और उसके द्वारा मृत्यु को पार कर अमरत्व की प्राप्ति का संदेश दिया गया है।

गीता संन्यास मार्ग का एकान्त उपदेश नहीं देती। अतः हम इस आक्षेप में कोई सार नहीं समझते कि एक समय माता पिता अपने बच्चों को गीता का पाठ करने से रोकते थे इस भय से कि कहीं उनके बच्चे वैरागी बन कर संन्यास का मार्ग ग्रहण न करलें।[1] वस्तुतः गीता तो कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्म योग पर बल देती है। उसकी दृष्टि में अपने कर्तव्य कर्म को छोड़ कर परायी निष्ठा को स्वीकार कर लेना अनुचित है। गीता का यह कर्मयोग क्षत्रियों का सर्वस्व है। अतः जीवन-पथ पर संघर्ष करने वाले मानव के लिये गीता की शिक्षा अत्यन्त स्फूर्ति युक्त और ओजस्विनी है। गीताकार चातुर्वण्य व्यवस्था में पूर्ण विश्वास रखते हैं। ओर्योचित मर्यादा और समाज रचना का गीता में पूर्ण समर्थन मिलता है।

इस दृष्टि से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज के युग में गीता की उदात्त शिक्षाओं की सर्वाधिक आवश्यकता है। स्वकर्तव्य पालन, निष्काम भावना से कर्म का

गीता की पृष्ठ भूमि पृ० ३४

आचरण, निर्लिप्त भाव से-जल में कमल पत्र के तुल्य रहते हुये तथा किसी भी दशा में सन्तुलन न खोना, संसार की आपद विपदाओं से जूझना गीता का संदेश है। आज का युग संशय, अविश्वास, नास्तिकता, जड़वाद, तथा मूल्यों के विघटन का है। लोगों की आस्थायें और विश्वास हिल चुके हैं। वे धर्म और नैतिकता को ढकोसला समझते हैं। उनकी सम्मति में बाह्य कर्म-काण्ड और ढोंग तथा आडम्बर ही धर्म का पर्याय है। ऐसी दशा में गीता आस्तिकता का संदेश देती है। वह नैतिक मूल्यों में हमारी आस्था को दृढ़ करती है। आध्यात्मिकता के भावों को पुष्ट कर धर्म के सच्चे स्वरूप की ओर हमें ले जाती है। उसकी धर्म की व्याख्या तक व्यावहारिक और क्रियात्मक व्याख्या है जिसमें दुरूह और जटिल कर्म काण्ड के स्थान पर सरल और सुगम कर्त्तव्याचरण पर जोर दिया गया है। वेद के सिद्धान्तों को जिस सहज, सरल और प्रसाद पूर्ण शैली में गीता में निबद्ध किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गीता की लोक-प्रियता का यही रहस्य है। भावी मानव प्रेरणा और स्फूर्ति के लिये गीता की ओर देखता रहेगा, यह निश्चित है।

१४—गीता की सूक्तियाँ

१— गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ २।११ ॥
पण्डित-गण न मरे हुओं के लिये शोक करते हैं और न जीवतों के लिये।

२— नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ २।१६ ॥
असत्य वस्तु का अस्तित्व नहीं होता और सत्य वस्तु का अभाव नहीं होता।

३— नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥ २।२३ ॥

अमर आत्मा को न शस्त्र काट सकते है, न अग्नि जला सकती है।

४— जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च (२।२७)
जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वाले का जन्म निश्चित है।

५— कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन (२।४७)
कर्म करने का तेरा अधिकार है, उसके फल में नहीं।

६— समत्वं योग उच्यते (२।४८)
साम्य बुद्धि ही योग है।

७— यज्ञाद्भवति पर्जन्यो— (३।१४)
यज्ञ से वर्षा होती है।

८— स्वधर्मे निधनं श्रेयः (३।३५)
स्वधर्म का आचरण करते हुए मरना भी अच्छा है।

९— नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (४।३८)
ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला और कुछ भी नहीं है।

१०— श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं (४।३९)
श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त करता है।

११— संशयात्मा विनश्यति (४।४०)
संशययुक्त पुरुष नष्ट हो जाता है।

१२— एकं सांख्यं च योगं च (५।५)
सांख्य और योग एक ही हैं।

१३— शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः (५।१८)
समदर्शी पण्डित कुत्ते और चाण्डाल में भी आत्मा को देखते हैं।

१४— आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः (६।५)

आत्मा ही आत्मा का बंधु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ।

१५— अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ६।३५ ।।
अभ्यास और वैराग्य से मन का निग्रह होता है ।

१६— न हि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।। ६।४० ।।
शुभ कर्म करने वाले की दुर्गति नहीं होती ।

१७— यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। १८।५ ।।
यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं ।

१८— ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । ।। १८।६१ ।।
ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान है ।

१९— तमेव शरणं गच्छ ।। १८।६२ ।।
उसी की शरण में जाओ ।

२०— यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। १८।७८ ।।
जहाँ कृष्ण (ब्राह्म बल) और अर्जुन (शात्र बल) हैं वहाँ श्री विजय, विभूति और अचल नीति है ।

१५. गीता विषयक आर्यसामाजिक साहित्य—

(अ) भाष्य और व्याख्यायें—

१ श्रीमद्भगवद्गीता भाष्यम् [भीमसेन शर्मा, इटावा निवासी]
२ श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य[तुलसीराम स्वामी,स्वामीप्रेस,मेरठ]
३ गीता योग प्रदीपार्य भाष्य [म० म० आर्यमुनि, लाहौर]
४ श्रीमद्भगवद्गीता सिद्धान्त [स्वामी दर्शनानत्द सरस्वती अनु० गोकुलचन्द दीक्षित]
५ श्री मद्भगवद्गीता [स्वामी सत्यानन्द, राजपाल-लाहौर]

६ वैदिक गीता [स्वामी आत्मानन्द सरस्वती प्रकाशक—वैदिक साहित्य सदन, दिल्ली]
७ गीता भाष्य [पं० राजाराम—आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर]
८ श्रीमद्भगवद्गीता [भूमित्र शर्मा]
९ गीता पुरुषार्थ बोधिनी टीका [श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल—पारड़ी]
१० गीता का सच्चा स्वरूप [रघुनन्दनसिंह 'निर्मल' वेद प्रचारक मण्डल, दिल्ली]
११ प्राचीन भगवद्गीता [स्वामी मङ्गलानन्दपुरी मङ्गल ग्रन्थ-माला ५—१९८२ वि०]
१२ सप्तश्लोकी गीता [स्वामी मङ्गलानन्दपुरी अतरसूया-प्रयाग १९-८२ वि०]
१३ आर्यकुमार गीता [ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार—मेधार्थी मणिमाला १]
१४ गीता उपदेश [जगदीशचन्द्र विद्यार्थी—आर्यकुमार सभा किग्जवे दिल्ली]
१५ गीता वचनामृत [विष्णुमित्र आर्योपदेशक]
१६ गीतासार [आत्माराम अमृतसरी जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा]
१७ गीता मर्म [कृष्णस्वरूप विद्यालंकार इस्लामनगर बदांयू]
१८ गीता विज्ञान विवेचन [" "]
१९ गीता का यौगिक भाष्य [स्वामी योगानन्द सरस्वती]
२० सप्तश्लोकी गीता तथा वैदिक गीता ["]
२१ गीता गुटका [पं० राजाराम]
२२ हितैषी की गीता (दोहानुवाद)
२३ गीतापद्यानुवाद [श्री ज्ञानप्रकाश गौतम बुकडिपो, दिल्ली]

२४ प्राचीन हिन्दी गीता का पद्यानुवाद—तेजूमल मुरलीधर
२५ कल्याणपथ (गीता भाष्य) [चन्द्रमणि विद्यालंकार—भास्कर प्रेस, देहरादून]
२६ गीतामृत—[गोपाल जी बी०ए० प्राच्य साहित्य सेवा मण्डल, दिल्ली]
२७ गीता का धारावाही हिन्दी भाष्य [पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार]

गीता विषयक विवेचनात्मक ग्रन्थ—

गीतामृत—[भाई परमानन्द राजपाल लाहौर]
गीता विमर्श [नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ]
गीता विमर्श [पं० राजेन्द्र वेद मंदिर अतरौली]
गीता की पृष्ठभूमि [" "
ऋषि दयानन्द और गीता [" "
गीता समीक्षा [चक्खनलाल वेदार्थी "]
गीता विवेचन [डा० श्रीराम आर्य कासगञ्ज]
गीता में ईश्वर का स्वरूप [अमरसिंह आर्यपथिक]
गीता हमें क्या सिखलाती है ? [पं० राजाराम]
, गीता दिग्दर्शन [प्रि० दीवानचन्द नानकचंद वजीरदेवी ट्रस्ट कानपुर]
. Short Studies in Gita principal Diwan chand M. A.]
: श्रीमद्भगवद्गीता लेखमाला [श्रीपाद दामोदर सातवलेकर]